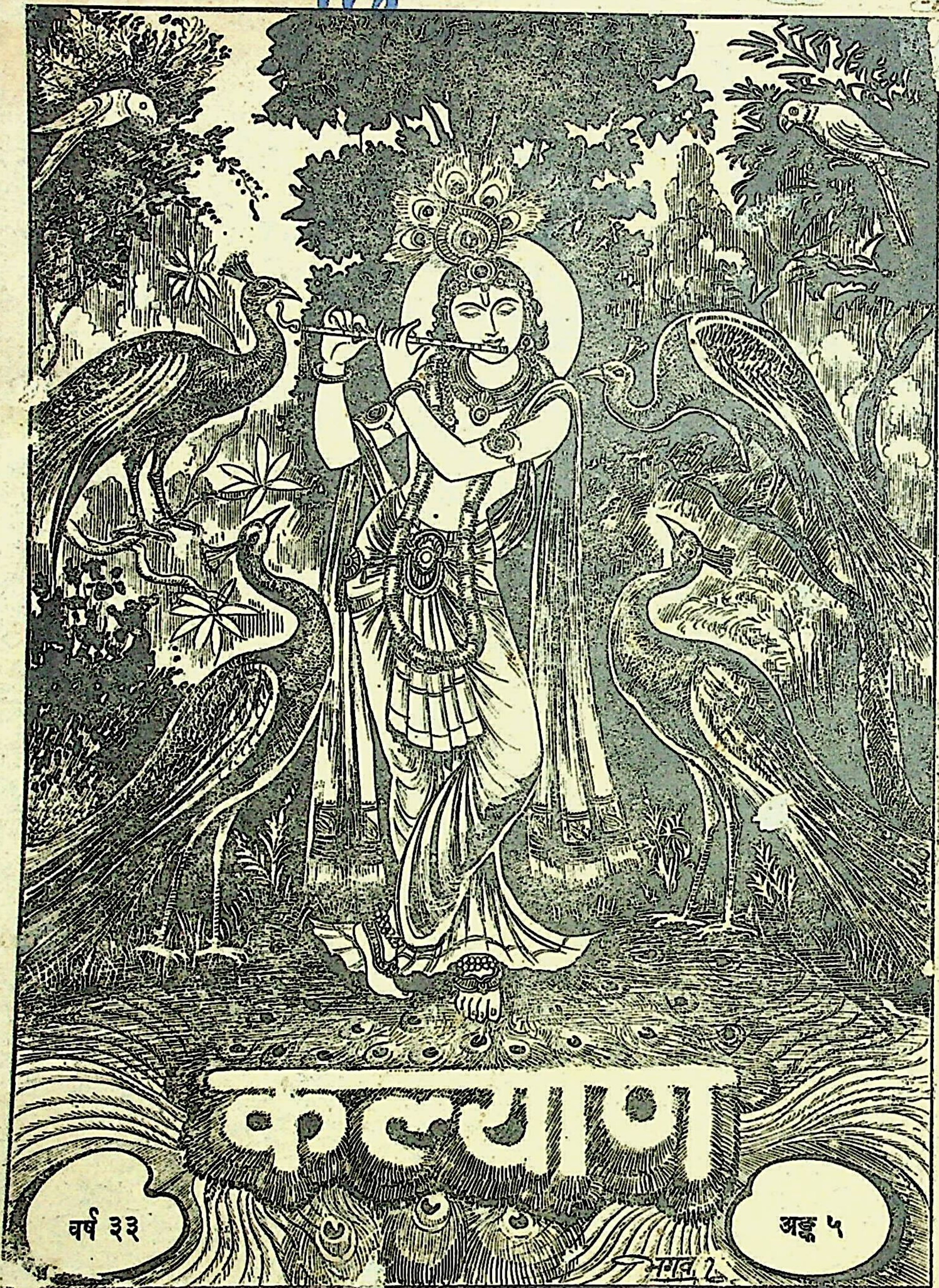

कल्याण
वर्ष ३३
अङ्क ५

रघुपति राघव राजा राम । पतित-पावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर ज्येष्ठ २०१६, मई १९५९

विषय	पृष्ठ-संख्या
१—भगवान्‌की विभूति—पीपल, नारद, चित्ररथ और कपिल [कविता] ...	८९७
२—कल्याण ('शिव') ...	८९८
३—स्वास्थ्य (स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज)	८९९
४—ज्ञानकी सात भूमिकाएँ (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ...	९०२
५—प्रभु निरन्तर मुझे अपनी सेवाका अवसर प्रदान कर रहे हैं	९१०
६—पूर्णब्रह्म परात्पर राम (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)	९११
७—कौन तुम ? [कविता] ...	९१३
८—जीवन-दर्शन (श्रीदीनानाथजी सिद्धान्तालंकार)	९१४
९—भरद्वाज-आश्रममें श्रीभरतजीका अनुपम आतिथ्य (कुँवर श्रीराजेन्द्रसिंहजी एम्० ए०, एल्-एल्० बी०) ...	९१६
१०—ऋग्वेदीय मन्त्रद्रष्टा (ऋग्वेद-भाष्यकर्ता पं० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी) ...	९२१
११—महासती सावित्री (श्रीकृष्णगोपालजी माथुर)	९२५
१२—स्मृतिपुष्प (श्रीतारा पण्डित एम्० ए०)	९२९
१३—अन्नके अभावसे बचना चाहते हो तो अन्नदाताकी रक्षा करो (ब्रह्मचारी श्रीहरिदेवजी)	९३१
१४—वैज्ञानिक अन्धविश्वास (श्रीविश्वामित्रजी वर्मा)	९३२
१५—श्रीराधाका त्यागमय एकाङ्गी निर्मल भाव	९३७
१६—भगवान् ही मेरी शक्ति, शान्ति एवं विवेकके मूल स्रोत हैं ...	९३८
१७—पूज्यपाद श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महात्मा श्रीनथुराम शर्मा (अनु० तथा प्रेषक—श्रीसुरेश एम्० भट) ...	९३९
१८—क्षमा [कविता] (श्रीमधुसूदनजी वाजपेयी)	९४१
१९—कथा-सत्र (ब्रह्मचारी श्रीप्रभुदत्तजी महाराज)	९४२
२०—अब भगवदीय शक्ति मेरे जीवनमें सक्रिय हो रही है	९४६
२१—रस-दर्शन (साधुवेषमें एक पथिक)	९४७
२२—निरा भार ! भूपर निस्सार !! [कविता] (श्रीब्रह्मानन्दजी 'बन्धु') ...	९४९
२३—मैत्री-भावना एक अमोघ अमृत है (डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०)	९५०
२४—कब आओगे ! [कविता] (श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र)	९५२
२५—अपने विचारको शुद्ध कीजिये (स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज) ...	९५३
२६—पढ़ो, समझो और करो ...	९५४
२७—सहारा दो [कविता] (श्रीगोविन्दजी, एम्० ए०, बी० एस्-सी०) ...	९६०

चित्र-सूची

तिरंगा

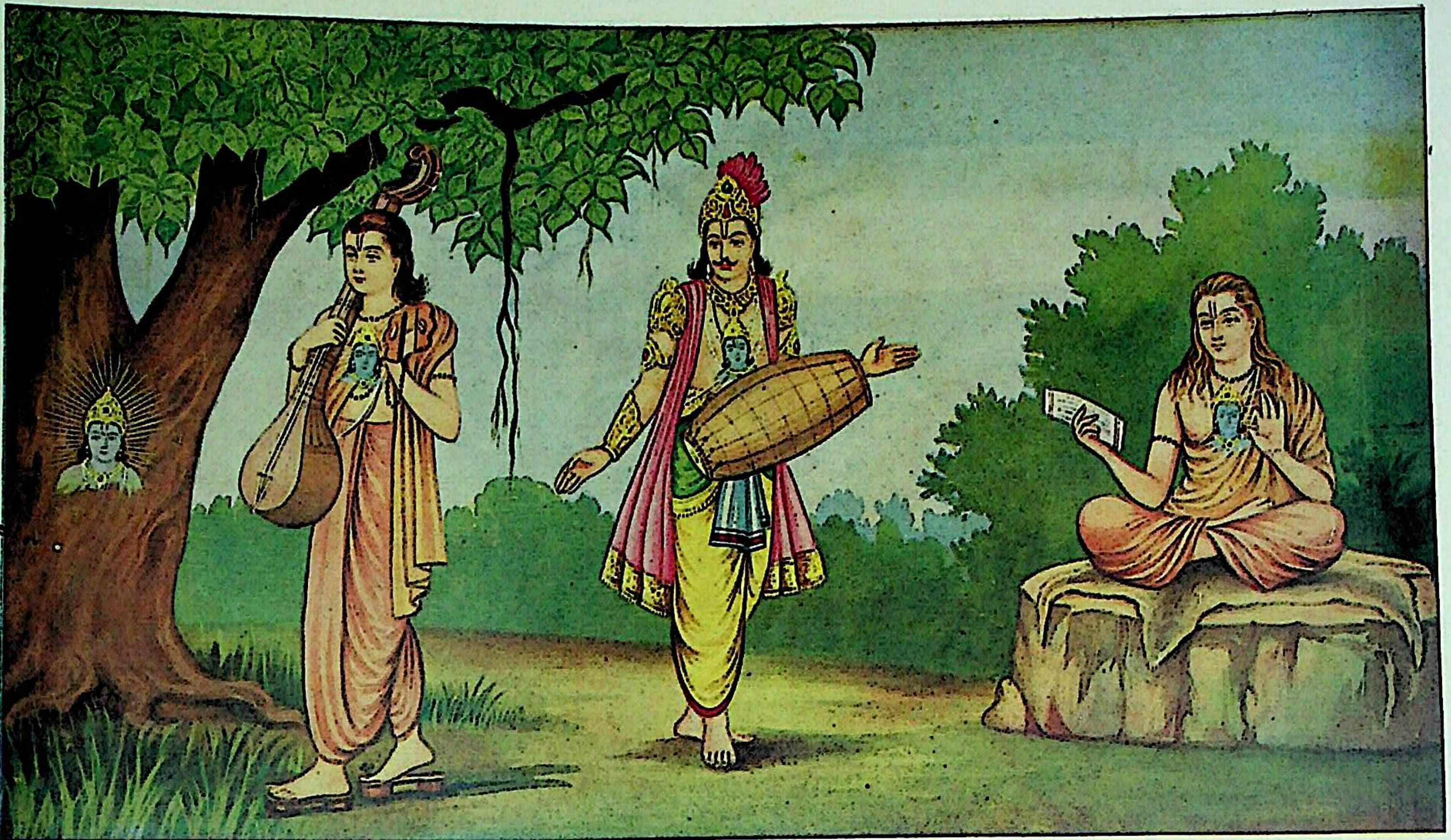
१—भगवान्‌की विभूति—पीपल, नारद, चित्ररथ और कपिल ८९७

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति भारतमें ।≈) विदेशमें ॥-) (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर



भगवान्‌की विभूति पीपल, नारद, चित्ररथ और कपिल

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



लोभो लुण्टति चित्तवित्तमनिशं कामः पदाऽऽक्राम्यति क्रोधोऽप्युद्धतधूमकेतुधवलो दन्दग्धि दिग्धोऽधिकम् ।
त्वामाश्रित्य नराः शरण्य शरणं सम्प्रार्थयामो वयं मग्नां मानवतां समुद्धर महामोहाम्बुधौ माधव ॥

वर्ष ३३ } गोरखपुर, सौर ज्येष्ठ २०१६, मई १९५९ { संख्या ५ पूर्ण संख्या ३९०

भगवान्‌की विभूति—पीपल, नारद, चित्ररथ और कपिल

हरिकी दिव्य विभूति अमित हैं, है अनन्त उनका विस्तार ।
बता रहे हैं उनमेंसे कुछ जो प्रधान हैं सबमें सार ॥
हूँ नारद देवर्षिवर्गमें, वृक्षोंमें मैं हूँ पीपल ।
हूँ गन्धर्व चित्ररथ, मैं ही, सिद्धोंमें मुनि सिद्ध कपिल ॥

याद रक्खो—जबतक भजन-साधन बोझ मालूम होता है, बिना मन किया जाता है, बला टालनेकी तरह जल्दी-जल्दी समाप्त किया जाता है, तबतक वह भजन-साधन है ही नहीं।

याद रक्खो—बोझ तो नहीं मालूम होता, किया भी जाता है मनसे, परंतु उसके लिये समय निर्दिष्ट है। जितना आज करना है, उतना हो गया तो फिर आज अधिक कुछ करनेकी कल्पना नहीं। कभी फुरसत न मिलनेपर न हो सका तो कोई बात नहीं, उसमें कोई हानि है, यह कल्पना नहीं—यह भी यथार्थ साधन नहीं है।

याद रक्खो—साधन यथार्थ वह है, जो जीवन बन जाता है। जिसके होनेमें कोई भी प्रयास या कठिनता नहीं होती, जिसके लिये कोई समय निर्दिष्ट नहीं, जिसके लिये मन लगने या जल्दी समाप्त करने या छोड़नेकी कल्पना ही नहीं, जो नित्य-निरन्तर बना रहता है, जिसके क्षणभर भी न होनेपर चित्तमें अत्यन्त व्याकुलता हो जाती है। वह साधन है।

याद रक्खो—साधन स्वाभाविक होता है और होता है वह जीवनरूप। वह किया नहीं जाता। होता है। वह है, सदा है। उसके बिना चलता ही नहीं। जैसे श्वासकी क्रिया अपने-आप होती है, की नहीं जाती। श्वास ही जीवन है; वह जबतक आता है, तभीतक जीवन है। क्षणभरके लिये उसका रुकना सहन नहीं होता। श्वास जरा-सा रुकते ही इतनी अधिक व्याकुलता होती है कि उसका वर्णन किया नहीं जा सकता। श्वास सदा ही अनवरतरूपसे सोते-जगते, चलते-बैठते, खाते-पीते, चुप रहते—बात करते, प्रेम करते—विवाद करते, पूजा करते—व्यापार करते, हँसते—रोते—सभी समय सहज चलता रहता है। चलते रहनेमें जरा भी कठिनाई नहीं, प्रयास नहीं, उकताहट नहीं, समयकी सीमा नहीं, किसीको दिखाना नहीं। पर यदि जरा रुक जाय तो, किसी भी काम करते समय, उसी क्षण उसका पता लग जाता है और चित्त अत्यन्त बेचैन हो जाता है। इसी प्रकार जब साधन-भजन सहज जीवनरूप बन जाता है। तभी वह यथार्थ साधन होता है।

याद रक्खो—इस साधनमें न किसी कर्तव्य-बोधकी आवश्यकता है, न किसी विशेष फलकी। न कोई इसका खास अभिमान होता है, न मनमें गौरव बुद्धि होती है। यह तो जीवन है—सहज जीवन है। कोई बाहरसे लायी हुई नयी चीज नहीं जिसके लिये किसी विशेष आदर-सत्कार, या सँभालकी जरूरत हो। यह स्वभाव है, यही फल है, यही अपना स्वरूप है। इस प्रकार जब साधन साधकसे अलग नहीं रहता और साध्यकी भी साधनसे पृथक्ता नहीं रह जाती, जब साधक, साधन और साध्य तीनोंकी एकरूपता 'साधन-रूपता' हो जाती है, तभी यथार्थ साधन होता है। जबतक ऐसा न हो तबतक प्रयत्न करो।

याद रक्खो—दृढ़ मान्यता या सरल अटूट विश्वास ही वह प्रयत्न है जो साधनको जीवन बना देनेमें समर्थ है। यह किसी बाहरी क्रियासे नहीं होता। इसीसे सत्संगकी महत्ता है—जिससे ऐसी दृढ़ मान्यता और अटूट विश्वासका उदय होता है जो इस प्रकारके साधनरूप जीवनका या जीवनरूप साधनका निर्माण करनेमें हेतु है।

याद रक्खो—समय जा रहा है, शरीर मृत्युके समीप पहुँच रहा है। मनुष्यशरीरका यह दुर्लभ अवसर व्यर्थ न चला जाय, अनर्थोत्पादक न हो जाय। इसकी सार्थकता साधनमें ही है। उसीमें लग जाओ। भगवत्कृपासे, जो सदा तुमपर अनन्त है और सत्संगसे, जो नित्य अन्तर्यामी भगवान् एवं उनके दिये हुए विवेकके रूपमें तथा संत-शास्त्रके रूपमें तुम्हें नित्य प्राप्त है, तुम इस साधनकी भूमिकापर अनायास पहुँच सकते हो। तीव्र इच्छा पैदा करो।

'शिव'



स्वास्थ्य

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज)

लेखका शीर्षक देखकर पाठकोंको ऐसा लगेगा कि मानो यहाँ कोई आयुर्वेदकी चर्चा की जायगी; परंतु यह शङ्का आवश्यक नहीं है। भौतिक दृष्टिसे स्वास्थ्यका अर्थ शरीरकी नीरोगता किया जाता है, यह सत्य है; परंतु तनिक और विचार करनेसे जान पड़ेगा कि केवल शारीरिक नीरोगता ही स्वास्थ्य नहीं है; क्योंकि इससे वास्तविक सुखकी प्राप्ति नहीं होती। आध्यात्मिक दृष्टिसे देखें तो 'स्व'में अर्थात् निजस्वरूपमें अखण्ड स्थिति बनी रहनी ही सच्चा स्वास्थ्य है; क्योंकि ऐसे स्वास्थ्यसे ही परम सुखका अनुभव सदा बना रहता है।

इस प्रकारका स्वास्थ्य प्राप्त करनेके लिये ईश्वरकी भक्ति एक अमोघ उपाय है। यह भक्ति कैसे हो सकती है, यह बतलाते हुए कुन्तीजी कहती हैं—

जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान्।
नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिंचनगोचरम्॥

'हे भगवन्! जो जन्म, ऐश्वर्य, विद्या, धन आदिमें ममता बनाये रहते हैं तथा इनके द्वारा देहाभिमानका पोषण करते हैं, वे तुम्हारा भजन नहीं कर सकते। इस प्रकारके मनुष्य भजन करते देखे जायँ, तो भी वे मनोवाञ्छित विषयोंकी प्राप्तिके लिये ही तुम्हारा भजन करते हैं।' तब फिर सच्चा भजन कौन कर सकता है? —इसका उत्तर देते हुए कहती हैं कि 'जो अकिंचन हैं अर्थात् जिनकी किसी प्राणी, पदार्थ या परिस्थितिके प्रति लेशमात्र भी ममता नहीं, वही तुम्हारा यथार्थ भजन करनेमें समर्थ होते हैं; क्योंकि तुम अकिंचन-गोचर हो तथा अकिंचनके सर्वस्व हो।' इस प्रकार अकिंचन हुए विना, चारो ओरसे आसक्ति हटाये बिना यथार्थ भजन नहीं होता।

इस बातकी साक्षी देती हुई श्रुति भगवती कहती है—

द्वे पदे बन्धमोक्षाय ममेति निर्ममेति च।
ममेति बध्यते जन्तु निर्ममेति विमुच्यते॥

'बन्ध और मोक्ष देनेवाले दो पद हैं। वे हैं—(१) ममता और (२) ममताका सर्वथा अभाव अर्थात् अकिंचनपना। कहीं भी ममता बाँधनेसे प्राणीको बन्धन होता है और आसक्तिमात्रके त्यागसे मुक्ति प्राप्त होती है।' स्मृति भी कहती है—

ममेति दुःखमूलं हि निर्ममेति च निर्वृतिः।
शुकस्य विगमे दुःखं न दुःखं गृहमूषके॥

कहते हैं कि 'ममताका सम्बन्ध बाँधना ही सब दु:खोंका मूल है और कहीं भी ममता न बाँधनेसे मोक्ष-सुख मिलता है। दृष्टान्त देते हुए समझाते हैं कि घरमें पालतू शुक और चूहे दोनों रहते हैं; परंतु शुकमें ममता होनेसे उसकी मृत्यु होनेपर दुःख होता है और चूहेमें वैसा भाव न होनेपर उसके मरनेपर दु:ख नहीं होता।'

मनका ऐसा स्वभाव है कि वह अपने सर्वस्वका त्याग कर देता है और फिर अति तुच्छ विषयोंमें आसक्त हो जाता है। हरिनमें आसक्ति होनेसे राजा भरतके हरिन-जन्म प्राप्त करनेका इतिहास जगत्-प्रसिद्ध है। एक उच्च कोटिके साधुको एक क्षुद्र बेरमें आसक्ति हो गयी, इससे उन्हें उस बेरमें कीड़ा होना पड़ा। एक दूसरे महात्माको चमचमाते जूतेमें आसक्ति रहनेसे मोचीके यहाँ जन्म लेना पड़ा था। इस प्रकारके अनेक दृष्टान्त हैं, जिनसे यह शिक्षा मिलती है कि यदि मनके ऊपर खूब कड़ी चौकी या पहरा न रखा जाय तो वह कहाँ आसक्त हो जायगा, इसका पता भी नहीं लगेगा। मनुष्य ऐसा मान लेता है कि मैं तो अकिंचन हो गया हूँ, परंतु मन छिपे तौरपर अपनेमें कुछ-न-कुछ भरे रखता है।

इस बातको समझानेवाला एक दृष्टान्त लीजिये। राजा जनक अपने महलमें पलंगपर सोये थे। उनको एक सपना दीख पड़ा कि मानो वे स्वयं भिखारी हैं और फटे-पुराने कपड़े पहने हुए हैं। भोजनके लिये भीख माँगते फिर रहे हैं, पर तीन दिनसे कुछ भी खानेके लिये नहीं मिला है। चौथे दिन एक अन्न-सत्रमें पकायी हुई खिचड़ी बँट रही थी और उसे लेनेके लिये भिखारियोंकी टोली चली जा रही थी। वे स्वयं भी उसके साथ हो लिये। वे मिट्टीके एक खपरेमें खिचड़ी लेते हैं और सोचने लगते हैं—'अहा! खानेके लिये तो मिला, अब एक जगह निराले बैठकर खाऊँगा।' इस प्रकार विचार करते जा ही रहे थे कि पीछेसे एक गायने सींग मारा और वे जमीनपर गिर पड़े और वह मिट्टीका खपरा हाथसे छूटकर टूट गया तथा खिचड़ी जमीनपर बिखर गयी।

गिरनेकी चोटसे सहसा नींद टूट गयी। जागनेपर देखते हैं कि वे स्वयं अपने महलमें पलंगपर सोये हुए हैं। वे भिखारी नहीं हैं, भूखे भी नहीं हैं और न वह मिट्टीका खपरा और न खिचड़ी ही कहीं दीख रही है। इस स्वप्नका प्रभाव उनके मनपर इतना गहरा पड़ता है कि वे अपने आपसे स्वयं पूछने लगते हैं कि 'यह सच है या वह ?' अपने-आप कोई समाधान नहीं होता; तब वे जो ही आता है, उसीसे पूछते हैं कि 'यह सच है या वह सच है ?'। इस प्रश्नका कोई क्या उत्तर देता!

एक दिन अष्टावक्रजी वहाँ आ पहुँचे। राजाने उनसे भी यही प्रश्न पूछा। मुनिने उत्तर दिया—'या तो दोनोंको सच्चा मानो या दोनोंको मिथ्या मानो।'

राजाने कहा—'भगवन्! दोनोंको सच्चा कैसे मानें! और मिथ्या भी कैसे समझें! एकको सच्चा कहें तो दूसरेको मिथ्या कहना ही पड़ेगा।' अष्टावक्रजी बोले—'राजन्! देखो। इस जाग्रत् प्रपञ्चमें ब्रह्म ही जगत्-रूपमें अविद्याके योगसे प्रतीत होता है; इसलिये अधिष्ठान-दृष्टिसे जगत्‌को सच्चा कह सकते हैं। इसी प्रकार स्वप्नमें भी स्वप्नद्रष्टा अपने आपको स्वप्न-प्रपञ्चके रूपमें देखता है, इसलिये अधिष्ठान-दृष्टिसे स्वप्न-प्रपञ्च-को भी सत्य कह सकते हैं। इसी प्रकार नामरूप-दृष्टिसे जाग्रत् और स्वप्न दोनों ही मिथ्या हैं।'

इस उत्तरसे राजाके मनका समाधान हो गया और उन्होंने बड़े ही आदर-सत्कारसे मुनिको अपने यहाँ रखा। अब वे अष्टावक्र मुनि प्रतिदिन सायंकाल-को वेदान्तपर प्रवचन करने लगे। राजा जनकके दरबारमें बहुतेरे उच्चकोटिके सर्वस्व-त्यागी संत-महात्मा तथा संन्यासी रहा करते थे। प्रत्येकको उनकी इच्छाके अनुसार रहनेके लिये कुटी बनवा दी जाती तथा जो कुछ वे माँगते थे उसकी भी पूर्ति कर दी जाती थी। राज्यकी ओरसे ही नियमित रूपसे उनकी भिक्षाका प्रबन्ध था। वे सभी महात्मा प्रवचनमें आते थे और अपने-अपने निर्दिष्ट स्थानपर बैठ जाते थे। राजा जनक भी उपस्थित होते ही थे। किसी समय राजाको आनेमें देर हो जाती, तब नीचे लिखे अनुसार संवाद प्रारम्भ हो जाता।

महात्मागण—'मुनिवर! कथा प्रारम्भ कीजिये, समय हो गया है।' मुनि—'महाराजको आने दीजिये।'

महात्मागण—'मुनि महाराज! वे तो राजा हैं। उनको राज-काजसे अवकाश मिलेगा, तब आयेंगे। कथाके अधिकारी तो हम हैं। राजा तो केवल हमारी प्रसन्नताके लिये आकर उपस्थित होते हैं। हम तो आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये सर्वस्व त्यागकर अकिंचन हो गये हैं और राजा जनकको मिथिलाका राज्य चलाना है। अतएव हमें तो ऐसा लगता है कि राजा-के आगमनकी बाट देखकर उनको आवश्यकतासे अधिक महत्त्व दिया जाता है। इसलिये कथा आरम्भ कीजिये।'

अष्टावक्रने कुछ उत्तर नहीं दिया न राजा जनकके आनेके पहले कथा ही आरम्भ की।

इस प्रकारके प्रसङ्ग दो-चार बार आ चुके, तब मुनिने इसका कोई उपाय करनेका विचार किया। एक दिन कथा आरम्भ हुई। थोड़ी देरके बाद ही अष्टावक्र मुनि बीचमें ही बोल उठे—'देखो, देखो, चारो ओर प्रचण्ड आग लगी दीखती है। ऐसा लगता है, अभी सब कुछ जल जायगा।' सब महात्माओंने पीछे फिरकर देखा तो सामने ही आगकी लपटें दीख पड़ीं। सभी अपनी-अपनी वस्तुएँ बचानेके लिये दौड़े। अपने आसनपर कोई भी नहीं रहा। तब अष्टावक्रजी राजा जनकसे बोले—'राजन्! यह प्रचण्ड आग लग गयी है; उसे देखते नहीं जो यहाँ बैठे हुए हो? जल्दी जाओ, नहीं तो यह आग देखते-देखते सारी मिथिलाको भस्मसात् कर देगी। ये सर्वस्वत्यागी लोग अपनी-अपनी वस्तुएँ बचानेके लिये दौड़ गये हैं, यह देखते हुए भी तुम क्यों नहीं जाते?'

राजा जनकने उत्तर दिया—'महाराज! सारी मिथिला यदि जल जायगी तो उसमें मेरा कुछ भी नहीं जलेगा। जिस मिथिलाकी रक्षा करनेके लिये आप कहते हैं, वह मिथिला जिसकी है, वह उसकी रक्षा करनेमें समर्थ है। मैं किसलिये चिन्ता करूँ? आपकी कृपासे मैं यह अनुभव कर सका हूँ कि—

अकिंचनभवं स्वास्थ्यं कौपीनत्वेऽपि दुर्लभम्।

इस विश्वमें मेरा कुछ भी नहीं है, जो कुछ है वह सब परमेश्वरका है। इस प्रकारके निश्चयसे उत्पन्न स्वास्थ्य सर्वस्व-त्यागी कौपीनधारीको भी दुर्लभ है। फिर आज तो आपने इसका प्रत्यक्ष अनुभव ही करा दिया।'

अष्टावक्रजी बोले—'अभयं प्राप्तोऽसि जनक!'—राजा जनक! अब तुमने निर्भयपदमें विश्रान्ति प्राप्त कर ली है।

विज्ञ पाठकवृन्द! ईश्वरकी मायाका यथार्थ रूप यहीं देखना है। ये महात्मा प्रारब्धसे प्राप्त घर-बार, खेती-बाड़ी तथा कुटुम्बीजनोंको त्यागकर एक कौपीन धारण करके घरसे निकले होंगे और इसी स्थितिमें राजा जनकके यहाँ पहुँचे होंगे राजा जनकके द्वारा सत्कृत होकर कुछ ही समयतक वहाँ रहे होंगे। कुटी तथा सर्वसामग्री राजाकी दी हुई है, यह भी जानते होंगे। तथापि किसीकी लँगोटीमें, किसीकी कमण्डलुमें तथा किसीकी पुस्तकमें आसक्ति-ममता बँध गयी होगी; कुछ लोगोंने खानेकी सामग्री इकट्ठी कर रखी होगी। ऐसी स्थितिमें वे अपनी मानी हुई वस्तुएँ बचानेके लिये दौड़े होंगे, यद्यपि वस्तुतः कोई भी वस्तु उनकी थी ही नहीं।

इधर राजा जनकको मिथिलाका राज्य प्रारब्धसे ही प्राप्त था, तो भी वे उसको अपना नहीं मानते थे; इसी कारण वे अडिग धैर्यके साथ अपने आसनपर स्थिर बैठे रहे।

इसलिये प्रतिदिन मनका निरीक्षण करता रहे; जिससे यह कहीं कुछ भर न ले। प्रतिदिन इसको साफ करता रहे, जिससे कहीं भी ममताकी मैल न लग जाय। इसी कारण श्रीशंकराचार्यने कहा है—

अहर्निशं किं परिचिन्तनीयं
संसारमिथ्यात्वशिवात्मतत्त्वम्।

दिन-रात किसका चिन्तन करते रहना चाहिये? उत्तर देते हैं कि (१) संसारका कोई भी विषय सुख नहीं दे सकता, इसलिये उसमें मनको आसक्त न होने दे। इस प्रकार संसारके मिथ्यात्वका और (२) 'मैं सुख-स्वरूप आत्मा हूँ'—इसका विस्मरण न होने दे। इस प्रकार शिवात्मतत्त्वका नित्य चिन्तन करना चाहिये।

ज्ञानकी सात भूमिकाएँ

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

श्रीवसिष्ठजीने बतलाया है—

ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसा॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात् ततोऽसंसक्तिनामिका।
पदार्थभावना षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता॥

(योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ११८। ५-६)

'पहली शुभेच्छा, दूसरी विचारणा, तीसरी तनुमानसा, चौथी सत्त्वापत्ति, पाँचवीं असंसक्ति, छठी पदार्थभावना और सातवीं तुर्यगा—इस प्रकार ये ज्ञानकी सात भूमिकाएँ मानी गयी हैं।'

इनके स्वरूपको पृथक्-पृथक् इस प्रकार समझना चाहिये—

१· शुभेच्छा

स्थितः किं मूढ एवास्मि प्रेक्ष्येऽहं शास्त्रसज्जनैः।
वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः॥

(योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ११८। ८)

"मैं मूढ़ होकर ही क्यों स्थित रहूँ, मैं शास्त्रों और सत्पुरुषोंके द्वारा जानकर तत्त्वका साक्षात्कार करूँगा—इस प्रकार वैराग्यपूर्वक मोक्षकी इच्छा होनेको ज्ञानीजनोंने 'शुभेच्छा' कहा है।"

अभिप्राय यह कि समस्त (पापमय) अशुभ इच्छाओंका अर्थात् चोरी, व्यभिचार, झूठ, कपट, छल, बलात्कार, हिंसा, अभक्ष्य-भोजन, दुर्व्यसन और प्रमाद (व्यर्थ चेष्टा) आदि शास्त्र-निषिद्ध कर्मोंका मन, वाणी और शरीरसे त्याग करना; नाशवान्, क्षणभङ्गुर, स्त्री, पुत्र और धन आदि प्रिय वस्तुओंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे तथा रोग-संकटादिकी निवृत्तिके उद्देश्यसे किये जानेवाले यज्ञ, दान, तप और उपासनादि काम्यकर्मोंको अपने स्वार्थके लिये न करना; मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा एवं स्त्री, पुत्र और धनादि जो कुछ भी अनित्य पदार्थ प्रारब्धके अनुसार प्राप्त हुए हों, उनके बढ़नेकी इच्छाका त्याग करना; अपने सुखके लिये किसीसे भी धनादि पदार्थोंकी अथवा सेवा करनेकी याचना न करना और बिना याचनाके दिये हुए पदार्थोंको या की हुई सेवाको स्वीकार न करना तथा किसी प्रकार भी किसीसे अपना स्वार्थ सिद्ध करनेकी मनमें इच्छा न रखना; ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा, यज्ञ, दान, तप तथा वर्णाश्रमके अनुसार जीविकाद्वारा गृहस्थका निर्वाह और शरीर-सम्बन्धी खान-पान आदि सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंमें आलस्यका तथा सब प्रकारकी सांसारिक कामनाका त्याग करना एवं 'प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऐतरेय उप० १। ३)—ब्रह्म विज्ञानघन है, 'अयमात्मा ब्रह्म' (माण्डूक्य उप० २)—यह आत्मा ही परब्रह्म परमात्मा है, 'तत्त्वमसि' (छान्दोग्य उप० ६। १२। ३)—वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म तू ही है और 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृहदा० उप० १। ४। १०)—मैं देह नहीं हूँ, ब्रह्म हूँ—इन वेदान्त-वाक्योंका एकमात्र परमात्माके तत्त्व-रहस्य-ज्ञानपूर्वक उनको प्राप्त करनेकी इच्छासे सत्-शास्त्रोंमें अध्ययन करना और सत्पुरुषोंका सङ्ग करके उनसे इन महावाक्योंका श्रवण करना ही 'शुभेच्छा' नामकी प्रथम भूमिका है। इसलिये इस भूमिकाको 'श्रवण' भूमिका भी कहा जा सकता है।

२· विचारणा

शास्त्रसज्जनसम्पर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम्।
सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा॥

(योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ११८। ९)

'शास्त्रोंके अध्ययन, मनन और सत्पुरुषोंके सङ्ग तथा विवेक-वैराग्यके अभ्यासपूर्वक सदाचारमें प्रवृत्त होना—

यह 'विचारणा' नामकी भूमिका कही जाती है।

उपर्युक्त प्रकारसे सत्पुरुषोंके सङ्ग, सेवा एवं आज्ञा-पालनसे, सत्-शास्त्रोंके अध्ययन-मननसे तथा दैवी सम्पदारूप सद्गुण-सदाचारके सेवनसे उत्पन्न हुआ विवेक (विवेचन) ही 'विचारणा' है। भाव यह कि सत्-असत् और नित्य-अनित्य वस्तुके विवेचनका नाम 'विवेक' है। विवेक इनका भलीभाँति पृथक्करण कर देता है। सब अवस्थाओंमें और प्रत्येक वस्तुमें प्रतिक्षण आत्मा और अनात्माका विश्लेषण करते-करते यह विवेक सिद्ध होता है।

जिसका कभी नाश न हो, वह 'सत्' है और जिसका नाश होता है, वह 'असत्' है। भगवान्ने कहा है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥
(गीता २। १६)

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।'

इस नियमके अनुसार जो दृश्य जड पदार्थ हैं, वे उत्पत्ति-विनाशशील होनेके कारण असत् हैं और परमात्मा ही एक सत् पदार्थ है। जीवात्मा भी उसका अंश होनेके कारण सत् है। अद्वैत-सिद्धान्तके अनुसार जीवात्मा और परमात्मा वस्तुतः एक ही हैं, मायाकी उपाधिके सम्बन्धसे उनका भेद प्रतीत होता है। जैसे महाकाशके एक होते हुए भी घड़ेकी उपाधिके सम्बन्धसे घटाकाश और महाकाश अलग-अलग प्रतीत होते हैं, वस्तुतः घटाकाश, महाकाश एक ही हैं, इसी प्रकार जीवात्मा, परमात्मा वास्तवमें एक ही हैं—इस तत्त्वको समझ लेना 'विवेक' है।

उपर्युक्त विवेकके द्वारा जब सत्-असत् और नित्य-अनित्यका पृथक्करण हो जाता है, तब असत् और अनित्यसे आसक्ति हट जाती है, एवं इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें कामना और आसक्तिका न रहना ही 'वैराग्य' है। महर्षि पतञ्जलिने कहा है—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।
(योगदर्शन १। १५)

"स्त्री, धन, भवन, मान, बड़ाई आदि इस लोकके और स्वर्गादि परलोकके सम्पूर्ण विषयोंमें तृष्णारहित हुए चित्तकी जो वशीकार-अवस्था होती है, उसका नाम 'वैराग्य' है।"

समस्त इन्द्रियों और विषयोंके सङ्गसे उत्पन्न होनेवाले जितने भी भोग हैं, वे सब अनित्य हैं; किंतु अज्ञानसे अनित्यमें नित्यबुद्धि होनेके कारण विषयभोगादि नित्य प्रतीत होते हैं। इसलिये उनको अनित्य मानकर उनसे वैराग्य करना चाहिये। गीतामें भगवान् कहते हैं—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥
(गीता २। १४)

'हे कुन्तीपुत्र! सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखको देनेवाले इन्द्रिय और विषयोंके संयोग तो उत्पत्ति-विनाशशील और अनित्य हैं; इसलिये हे भारत! उनको तू सहन कर।'

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥
(गीता २। १५)

'क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ! दुःख-सुखको समान समझनेवाले जिस धीर पुरुषको ये इन्द्रिय और विषयोंके संयोग व्याकुल नहीं कर सकते, वह मोक्षके योग्य होता है।'

अतः वैराग्यकी प्राप्तिके लिये संसारके विषयभोगोंको अनित्य और दुःखरूप समझकर उनमें आसक्तिरहित होना परम आवश्यक है, यों समझकर ही विवेकी मनुष्य उनमें नहीं रमते। भगवान्ने कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
(गीता ५। २२)

'जो ये इन्द्रिय और विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं, तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं; इसलिये हे अर्जुन ! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता ।'

इस प्रकार विवेक-वैराग्य हो जानेपर साधकका चित्त निर्मल हो जाता है; उसमें क्षमा, सरलता, पवित्रता तथा प्रिय-अप्रियकी प्राप्तिमें समता आदि गुण आने लगते हैं; उसके मन, इन्द्रिय और शरीर विषयोंसे हटकर वशमें हो जाते हैं, फिर उसे गङ्गातट, तीर्थ-स्थान, गिरि-गुहा, वन आदि एकान्तदेशका सेवन ही अच्छा लगता है; उसके ममता, राग-द्वेष, विक्षेप और मान-बड़ाईकी इच्छाका अभाव-सा हो जाता है; विषयभोगोंसे स्वाभाविक ही उपरति हो जाती है एवं विवेक-वैराग्यके प्रभावसे वह नित्य परमात्माके स्वरूपके चिन्तनमें ही लगा रहता है ।

भगवान्ने गीतामें ज्ञानके साधन बतलाते हुए कहा है—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥
(१३ । ७–११)

'श्रेष्ठताके अभिमानका अभाव, दम्भाचरणका अभाव, किसी भी प्राणीको किसी प्रकार भी न सताना, क्षमाभाव, मन-वाणी आदिकी सरलता, श्रद्धाभक्ति-सहित गुरुकी सेवा, बाहर-भीतरकी शुद्धि, अन्तःकरणकी स्थिरता और मन-इन्द्रियोंसहित शरीरका निग्रह, इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव और अहंकारका भी अभाव; जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख और दोषोंका बार-बार विचार करना; पुत्र, स्त्री, घर और धन आदिमें आसक्तिका अभाव, ममताका न होना तथा प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें सदा ही चित्तका सम रहना; मुझ परमेश्वरमें अनन्य योगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति तथा एकान्त और शुद्ध देशमें रहनेका स्वभाव और विषयासक्त मनुष्योंके समुदायमें प्रेमका न होना; अध्यात्मज्ञानमें नित्य-स्थिति और तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको ही देखना—यह सब ज्ञान है और जो इससे विपरीत है, वह अज्ञान है—यों कहा गया है ।'

दूसरी भूमिकामें परिपक्व हो जानेपर उस साधकमें उपर्युक्त गुण और आचरण आने लगते हैं ।

ऊपर प्रथम भूमिकामें बताये हुए महावाक्योंका निरन्तर मनन और चिन्तन करना ही प्रधान होनेके कारण इस दूसरी भूमिकाको 'विचारणा' कहा गया है, अतः इसे 'मनन' भूमिका भी कहा जा सकता है ।

३. तनुमानसा

विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेष्वसक्तता ।
यत्र सा तनुताभावात् प्रोच्यते तनुमानसा ॥
(योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ११८ । १०)

"उपर्युक्त शुभेच्छा और विचारणाके द्वारा इन्द्रियोंके विषयभोगोंमें आसक्तिका अभाव होना और अनासक्त हो संसारमें विचरण करना—यह 'तनुमानसा' है; इसमें मन शुद्ध होकर सूक्ष्मताको प्राप्त हो जाता है, इसीलिये इसे 'तनुमानसा' कहते हैं ।"

अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त कामना, आसक्ति और ममताके अभावसे; सत्पुरुषोंके सङ्ग और सत्-शास्त्रोंके अभ्याससे तथा विवेक-वैराग्यपूर्वक निदिध्यासन—

ध्यानके साधनसे साधककी बुद्धि तीक्ष्ण हो जाती है तथा उसका मन शुद्ध, निर्मल, सूक्ष्म और एकाग्र हो जाता है, जिससे उसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमात्मतत्त्वको ग्रहण करनेकी योग्यता अनायास ही प्राप्त हो जाती है। इसीको 'तनुमानसा' भूमिका कहा गया है।

इस तीसरी भूमिकामें स्थित साधकके अन्तःकरणमें सम्पूर्ण अवगुणोंका अभाव होकर स्वाभाविक ही अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अनसूया (दोषदृष्टिका अभाव), अमानिता, निष्कपटता, पवित्रता, संतोष, शम, दम, समाधान, तेज, क्षमा, दया, धैर्य, अद्रोह, निर्भयता, निरहंकारता, शान्ति, समता आदि सद्गुणोंका आविर्भाव हो जाता है। फिर उसके द्वारा जो भी चेष्टा होती है, वह सब सदाचाररूप ही होती है तथा उस साधकको संसारके सम्पूर्ण पदार्थ मायाके कार्य होनेसे सर्वथा अनित्य हैं और एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही सर्वत्र समभावसे परिपूर्ण हैं—ऐसा दृढ़ निश्चय होकर शरीरसहित संसारके सम्पूर्ण पदार्थों और कर्मोंमें उसकी वासनाका भी अभाव हो जाता है। भाव यह है कि उसके अन्तःकरणमें उनके चित्र संस्काररूपसे भी नहीं रहते एवं शरीरमें अहंभाव तथा मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनका अभिमान नहीं रहता; क्योंकि वह परवैराग्यको प्राप्त हो जाता है। परवैराग्यका स्वरूप महर्षि पतञ्जलिने यों बतलाया है—

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।
(योगदर्शन १। १६)

'प्रकृतिसे अत्यन्त विलक्षण पुरुषके ज्ञानसे तीनों गुणोंमें जो तृष्णाका अत्यन्त अभाव हो जाना है, यह परवैराग्य या सर्वोत्तम वैराग्य है।'

पूर्वोक्त दूसरी भूमिकामें स्थित पुरुषकी तो विषयोंका विशेष संसर्ग होनेसे कदाचित् उनमें कुछ आसक्ति हो भी सकती है; परंतु इस तीसरी भूमिकामें पहुँचे हुए पुरुषकी तो विषयोंके साथ संसर्ग होनेपर भी उनमें आसक्ति नहीं होती; क्योंकि उसके निश्चयमें एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके सिवा अन्य कोई वस्तु रहती ही नहीं। अतः परवैराग्य हो जानेके कारण उसके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ सम्पूर्ण संसारसे अत्यन्त उपरत हो जाती हैं। यदि किसी कालमें कोई स्फुरणा हो भी जाती है तो भी उसके संस्कार नहीं जमते; क्योंकि उसकी एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें ही निरन्तर गाढ़ स्थिति बनी रहती है, जिसके कारण उसे कभी-कभी तो शरीर और संसारका विस्मरण होकर समाधि-सी हो जाती है। ये सब लक्षण परमात्माकी प्राप्तिके अत्यन्त निकट पहुँच जानेपर होते हैं।

सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माका चिन्तन करते-करते उस परमात्मामें तन्मय हो जाना तथा अत्यन्त वैराग्य और उपरतिके कारण परमात्माके ध्यानमें ही नित्य स्थित रहनेसे मनका विशुद्ध होकर सूक्ष्म हो जाना ही 'तनुमानसा' नामकी तीसरी भूमिका है। अतः इसे 'निदिध्यासन' भूमिका भी कह सकते हैं।

ये तीनों भूमिकाएँ साधनरूपा हैं। इनमें संसारसे कुछ सम्बन्ध रहता है, अतः यहाँतक साधककी 'जाग्रत अवस्था' मानी गयी है।

४. सत्त्वापत्ति

भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्तेऽर्थे विरतेर्वशात्।
सत्यात्मनि स्थितिः शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहृता॥
(योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ११८। ११)

'ऊपर बतायी हुई शुभेच्छा—श्रवण, विचारणा—मनन और तनुमानसा—निदिध्यासन भूमिकाओंके अभ्याससे चित्तके सांसारिक विषयोंसे अत्यन्त विरक्त हो जानेके अनन्तर उसके प्रभावसे आत्माका शुद्ध तथा सत्यस्वरूप परमात्मामें तद्रूप हो जाना 'सत्त्वापत्ति' कहा गया है।'

उपर्युक्त श्रवण, मनन और निदिध्यासनके तीव्र अभ्याससे जब साधक सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है, तब उसीको 'सत्त्वापत्ति' नामकी चौथी भूमिका कहते हैं। इसीको गीतामें निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति कहा गया है—

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्म निर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥
(५। २४)

'जो पुरुष आत्मामें ही सुखी है, आत्मामें ही रमण करता है तथा जो आत्मामें ही ज्ञानवान् है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त—'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अनुभव करनेवाला ज्ञानयोगी शान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है।'

जिस प्रकार गङ्गा-यमुना आदि सारी नदियाँ बहती हुई अपने नाम-रूपको छोड़कर समुद्रमें ही विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार ज्ञानी महात्मा नाम-रूपसे रहित होकर परम दिव्य पुरुष परात्पर परमात्माको ही प्राप्त हो जाता है, उसीमें विलीन हो जाता है—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥
(मुण्डकोपनिषद् ३। २। ८)

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
(१८। ५४-५५)

'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस प्रकारके अनुभवसे सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित, प्रसन्न मनवाला ज्ञानयोगी न तो किसीके लिये शोक करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा ही करता है। ऐसा समस्त प्राणियोंमें समभाववाला योगी मेरी पराभक्ति (ज्ञाननिष्ठा) को प्राप्त हो जाता है। उस ज्ञाननिष्ठारूप पराभक्तिके द्वारा वह मुझ परमात्माको मैं जो हूँ और जितना हूँ, ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्वसे जान लेता है तथा उस ज्ञाननिष्ठासे मुझको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।'

जब साधकको परब्रह्मका यथार्थ ज्ञान हो जाता है, तब वह ब्रह्म ही हो जाता है—

स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।
(मुण्डकोपनिषद् ३। २। ९)

फिर उसका इस शरीर और संसारसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता। ब्रह्मवेत्ता पुरुषके अन्तःकरणमें शरीर और अन्तःकरणके सहित यह संसार स्वप्नवत् प्रतीत होता है। जैसे स्वप्नसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नकी घटनाको मनकी कल्पनामात्र समझता है, वैसे ही उस ब्रह्मवेत्ताके अन्तःकरणमें यह संसार कल्पनामात्र प्रतीत होता है अर्थात् इस संसारकी काल्पनिक सत्ता प्रतीत होती है। स्वप्नमें और इसमें इतना ही अन्तर है कि स्वप्नका समय तो भूतकाल है और संसारकी स्वप्नवत् प्रतीतिका समय वर्तमानकाल है; तथा स्वप्नमें तो जो मन-बुद्धि थे, वे वर्तमानमें भी इस जीवात्माके साथ सम्बन्धित हैं, किंतु जब मनुष्य ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, तब उसके मन-बुद्धि इस शरीरमें ही रह जाते हैं, उस ब्रह्मवेत्ताके साथ ब्रह्ममें सम्बन्धित नहीं होते, इसलिये ब्रह्मकी दृष्टिसे तो इस संसारका अत्यन्त अभाव है।

वास्तवमें तो ब्रह्मके कोई दृष्टि ही नहीं है। केवल समझानेके लिये उसमें दृष्टिका आरोप किया जाता है। ब्रह्मकी दृष्टिमें तो केवल एक ब्रह्म ही है, उसके सिवा अन्य कुछ भी नहीं। ब्रह्मवेत्ताके शरीरका जो अन्तःकरण है, उसमें इस संसारका तो अत्यन्त अभाव और

सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका भाव प्रत्यक्ष है। यह ब्रह्मवेत्ता-का अनुभव है। इसी अनुभवके बलपर शास्त्रोंमें यह कहा गया है कि एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके सिवा अन्य कुछ भी नहीं है।

जो ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, वह ब्रह्म ही बन जाता है। श्रुतिमें भी कहा गया है—'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृहदारण्यक० ४।४।६)—वह ब्रह्म ही होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है।' इसलिये वह लौटकर नहीं आता। श्रुति कहती है—

न च पुनरावर्तते। न च पुनरावर्तते।
(छान्दोग्य० ८।१५।१)

'फिर वह कभी नहीं लौटता, फिर वह कभी नहीं लौटता।'

जब ब्रह्मकी दृष्टिमें सृष्टिका अत्यन्त अभाव है, तब ब्रह्म ही हो जानेपर लौटकर कौन कैसे कहाँ आवे। गीतामें भी बतलाया गया है—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥
(५।१७)

'जिनका मन तद्रूप हो रहा है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है और सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही जिनकी निरन्तर एकीभावसे स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्तिको अर्थात् पुनः न लौटनेवाली परम गतिको प्राप्त होते हैं।'

भाव यह कि उसका मन तद्रूप—ब्रह्मरूप हो जाता है। पूर्ण आनन्द, अपार आनन्द, शान्त आनन्द, घन आनन्द, अचल आनन्द, ध्रुव आनन्द, नित्य आनन्द, बोधस्वरूप आनन्द, ज्ञानस्वरूप आनन्द, परम आनन्द, महान् आनन्द, एक आनन्द-ही-आनन्द परिपूर्ण है, एक आनन्दके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है—इस प्रकार ब्रह्मके स्वरूपका मनन करते-करते जब मन तन्मय—ब्रह्ममय हो जाता है, तब उसको 'तदात्मा' कहते हैं।

उपर्युक्त प्रकारके विशेषणोंसे विभूषित ब्रह्मका मनन करते-करते जब मन ब्रह्ममें विलीन हो जाता है और उन विशेषणोंकी आवृत्तिके प्रभावसे ब्रह्मके विशेष स्वरूपका बुद्धिमें अनुभव हो जाता है, तब बुद्धिके द्वारा अनुभव किये हुए उस ब्रह्मके विशेष स्वरूपको लक्ष्य बनाकर जीवात्मा उस ब्रह्मका ध्यान करता है। यहाँ ब्रह्म तो ध्येय है, ध्यान करनेवाला साधक ध्याता है और बुद्धिकी वृत्ति ही ध्यान है। इस प्रकार ध्यान करते-करते जब बुद्धि उस ब्रह्ममें विलीन हो जाती है, तब उसे 'तद्बुद्धि' कहते हैं। इसके पश्चात् जब ध्याता, ध्यान और ध्येयरूप त्रिपुटी न रहकर साधककी ब्रह्मके स्वरूपमें अभिन्न स्थिति हो जाती है, तब उसे 'तन्निष्ठ' कहते हैं। इसमें ब्रह्मका नाम, रूप और ज्ञान रहता है; इसलिये यह प्रारम्भिक 'सविकल्प समाधि' है। इसीको सवितर्क सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। महर्षि पतञ्जलिने बतलाया है—

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः।
(योगदर्शन १।४२)

'उसमें शब्द, अर्थ और ज्ञान—इन तीनोंके विकल्पोंसे मिली हुई समाधि सवितर्क है।'

इस प्रकार सविकल्प समाधि होनेके बाद जब स्वतः ही साधककी निर्विकल्प समाधि हो जाती है, तब ब्रह्मका नाम (शब्द), रूप (अर्थ) और ज्ञान—ये तीनों विकल्प भिन्न-भिन्न नहीं रह जाते, एक अर्थ-मात्र वस्तु—ब्रह्मका स्वरूप ही रह जाता है। इसीको निर्वितर्क सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। महर्षि पतञ्जलिने कहा है—

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का।
(योगदर्शन १।४३)

'(शब्द और प्रतीतिकी) स्मृतिके भलीभाँति लुप्त हो जानेपर अपने रूपसे शून्य हुईके सदृश केवल ध्येय मात्रके स्वरूपको प्रत्यक्ष करानेवाली (अन्तःकरण-की स्थिति ही) निर्वितर्क समाधि है ।'

इसमें साधक स्वयं ब्रह्मस्वरूप ही बन जाता है। अतः उसको 'तत्परायण' कहते हैं। इस निर्विकल्प समाधिका फल जो निर्बीज असम्प्रज्ञात योग है, वही वास्तवमें ब्रह्मकी प्राप्ति है; उसीको यहाँ गीतामें अपुनरावृत्ति कहा गया है; क्योंकि ब्रह्मज्ञानके द्वारा जिसके मल, विक्षेप और आवरणरूप कल्मषका नाश हो गया है, वह ब्रह्मको प्राप्त पुरुष ब्रह्म ही हो जाता है; वह लौटकर नहीं आता ।

यही 'सत्त्वापत्ति' नामकी चौथी भूमिका है। इसमें पहुँचे हुए पुरुषको 'ब्रह्मवित्'—ब्रह्मवेत्ता कहा जाता है। इसमें संसार उस ज्ञानी महात्माके अन्तःकरणमें स्वप्नवत् भासित होता है, इसलिये यह उसके अन्तःकरणकी 'स्वप्नावस्था' मानी जाती है ।

श्रीयाज्ञवल्क्यजी, राजा अश्वपति और जनक आदि इस चौथी भूमिकामें पहुँचे हुए माने गये हैं ।

योगवासिष्ठमें जिस प्रकार ब्रह्मको प्राप्त पुरुषकी चौथी, पाँचवीं, छठी, सातवीं भूमिकाके रूपमें चार भेद बतलाये गये हैं, इस प्रकारके भेद गीता, रामायण, भागवत आदि ग्रन्थोंमें नहीं पाये जाते। परमात्माको प्राप्त पुरुषके लक्षण तो गीतामें जगह-जगह आते हैं, किंतु उसके इस प्रकारके अलग-अलग भेद नहीं बताये गये हैं। वास्तवमें ब्रह्मकी प्राप्ति होनेके पश्चात् ज्ञानी महात्मा पुरुषका शरीरसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता; क्योंकि वह देहाभिमानसे सर्वथा रहित होकर ब्रह्ममें तल्लीन हो जाता है। अतः योगवासिष्ठमें बतलाये गये उन भेदोंको ब्रह्मप्राप्त पुरुषके भेद न समझकर उसके अन्तःकरणके भेद समझने चाहिये ।

५. असंसक्ति

दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसङ्गफलेन च ।
रूढसत्त्वचमत्कारात् प्रोक्तासंसक्तिनामिका ॥
(योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ११८ । १२)

शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति—इन चारोंके सिद्ध हो जानेपर स्वाभाविक अभ्याससे चित्तके बाह्याभ्यन्तर सभी विषयसंस्कारोंसे अत्यन्त असङ्ग (सम्बन्ध-विच्छेद) हो जानेपर अन्तःकरणका समाधिमें आरूढ—स्थित हो जाना ही 'असंसक्ति' नामकी पाँचवीं भूमिका कहा गया है ।

परम वैराग्य और परम उपरतिके कारण उस ब्रह्मप्राप्त ज्ञानी महात्माका इस संसार और शरीरसे अत्यन्त सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, इसीलिये इस पाँचवीं भूमिकाको असंसक्ति कहा गया है ।

ऐसे पुरुषका संसारसे कोई भी प्रयोजन नहीं रहता। अतः वह कर्म करने या न करनेके लिये बाध्य नहीं है। गीतामें भगवान्ने कहा है—

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥
(३ । १८)

'उस महापुरुषका इस विश्वमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मोंके न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें भी इसका किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता ।'

फिर भी उस ज्ञानी महात्मा पुरुषके सम्पूर्ण कर्म शास्त्रसम्मत और कामना एवं संकल्पसे शून्य होते हैं। इस प्रकार जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप अग्निके द्वारा भस्म हो गये हैं, उस महापुरुषको ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥
(गीता ४ । १९)

अतः ऐसे पुरुषको उसके सम्मानके लिये 'ब्रह्मविद्वर' कहा जा सकता है। ऐसा महापुरुष जब समाधि-अवस्थामें रहता है, तब तो उसे सुषुप्ति अवस्थाकी भाँति संसारका बिल्कुल भान नहीं रहता और व्युत्थान अवस्थामें—व्यवहार-कालमें उसके द्वारा पूर्वके अभ्याससे सत्ता, आसक्ति, कामना, संकल्प और कर्तृत्वाभिमानके विना ही सारे कर्म होते रहते हैं। उसके द्वारा जो भी कर्म होते हैं, वे शास्त्रविहित ही होते हैं। उसकी कभी समाधि-अवस्था रहती है और कभी व्युत्थानावस्था, उसकी किसी दूसरेके प्रयत्नके बिना स्वतः ही व्युत्थानावस्था हो जाती है। किंतु वास्तवमें संसारके अभावका निश्चय होनेके कारण उसकी व्युत्थानावस्था भी समाधिके तुल्य ही होती है, इस कारण उसकी इस अवस्थाको 'सुषुप्ति-अवस्था' भी कहते हैं।

श्रीजडभरतजी इस पाँचवीं भूमिकामें स्थित माने जा सकते हैं।

६. पदार्थभावना

भूमिकापञ्चकाभ्यासात् स्वात्मारामतया दृढम्।
आभ्यन्तराणां बाह्यानां पदार्थानामभावनात्॥
परप्रयुक्तेन चिरं प्रयत्नेनार्थभावनात्।
पदार्थाभावनानाम्नी षष्ठी संजायते गतिः॥
(योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ११८। १३-१४)

'उपर्युक्त पाँचों भूमिकाओंके सिद्ध हो जानेपर स्वाभाविक अभ्याससे उस ज्ञानी महात्माकी आत्मारामताके प्रभावसे उसके अन्तःकरणमें संसारके पदार्थोंका अत्यन्त अभाव-सा हो जाता है, जिससे उसे बाहर-भीतरके किसी भी पदार्थका स्वयं भान नहीं होता, दूसरोंके द्वारा प्रयत्न-पूर्वक बहुत कालतक प्रेरणा करनेपर ही कभी किसी पदार्थका भान होता है; इसलिये उसके अन्तःकरणकी 'पदार्थभावना' नामकी छठी भूमिका हो जाती है।

पाँचवीं भूमिकाके पश्चात् जब वह ब्रह्मप्राप्त पुरुष छठी भूमिकामें प्रवेश करता है, तब उसकी नित्य समाधि रहती है, इसके कारण उसके द्वारा कोई भी क्रिया नहीं होती। उसके अन्तःकरणमें शरीर और संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंका अत्यन्त अभाव-सा हो जाता है। उसे संसार-का और शरीरके बाहर-भीतरका बिल्कुल ज्ञान नहीं रहता, केवल श्वास आते जाते हैं; इसलिये उस भूमिकाको 'पदार्थभावना' कहते हैं। जैसे गाढ़ सुषुप्तिमें स्थित पुरुषको बाहर-भीतरके पदार्थोंका ज्ञान बिल्कुल नहीं रहता, वैसे ही इसको भी ज्ञान नहीं रहता। अतः उस पुरुषकी इस अवस्थाको 'गाढ़ सुषुप्ति अवस्था' भी कहा जा सकता है। किंतु गाढ़ सुषुप्तिमें स्थित पुरुषके तो मन-बुद्धि अज्ञानके कारण अपने कारण मायामें विलीन हो जाते हैं, अतः उसकी स्थिति तमोगुणमयी है; पर इस ज्ञानी महापुरुषके मन-बुद्धि ब्रह्ममें तद्रूप हो जाते हैं (गीता ५। १७), अतः इसकी अवस्था गुणातीत है। इसलिये यह गाढ़ सुषुप्तिसे अत्यन्त विलक्षण है।

तथा गाढ़ सुषुप्तिमें स्थित पुरुष तो निद्राके परिपक्व हो जानेपर स्वतः ही जाग जाता है; किंतु इस समाधिस्थ ज्ञानी महात्मा पुरुषकी व्युत्थानावस्था तो दूसरोंके बारंबार प्रयत्न करनेपर ही होती है, अपने-आप नहीं। उस व्युत्थानावस्थामें वह जिज्ञासुके प्रश्न करनेपर पूर्वके अभ्यासके कारण ब्रह्मविषयक तत्त्व-रहस्यको बतला सकता है। इसी कारण ऐसे पुरुषको 'ब्रह्मविद्वरीयान्' कहते हैं।

श्रीऋषभदेवजी इस छठी भूमिकामें स्थित माने जा सकते हैं।

७. तुर्यगा

भूमिषट्कचिराभ्यासाद् भेदस्यानुपलम्भतः।
यत्स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः॥
(योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ११८। १५)

'उपर्युक्त छहों भूमिकाओंके सिद्ध हो जानेपर स्वाभाविक चिरकालतक अभ्यास होनेसे जिस अवस्थामें दूसरोंके द्वारा प्रयत्नपूर्वक प्रेरित करनेपर भी भेदरूप संसारकी सत्ता-स्फूर्तिकी उपलब्धि नहीं होती, वरं अपने आत्म-भावमें स्वाभाविक निष्ठा रहती है, उस स्थितिको उसके अन्तःकरणकी 'तुर्यगा' भूमिका जानना चाहिये।

छठी भूमिकाके पश्चात् सातवीं भूमिका स्वतः ही हो जाती है। उस ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी महात्मा पुरुषके हृदयमें संसारका और शरीरके बाहर-भीतरके लौकिक ज्ञानका अत्यन्त अभाव हो जाता है; क्योंकि उसके मन-बुद्धि ब्रह्ममें तद्रूप हो जाते हैं, इस कारण उसकी व्युत्थानावस्था तो न स्वतः होती है और न दूसरोंके द्वारा प्रयत्न किये जानेपर ही होती है। जैसे मुर्दा जगानेपर भी नहीं जाग सकता, वैसे ही यह मुर्देकी भाँति हो जाता है। अन्तर इतना ही रहता है कि मुर्देमें प्राण नहीं रहते और इसमें प्राण रहते हैं तथा यह श्वास लेता रहता है। ऐसे पुरुषका संसारमें जीवन-निर्वाह दूसरे लोगोंके द्वारा केवल उसके प्रारब्धके संस्कारोंके कारण ही होता रहता है। वह प्रकृति और उसके कार्य सत्त्व, रज, तम—तीनों गुणोंसे और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओंसे अतीत होकर ब्रह्ममें विलीन रहता है, इसलिये यह उसके अन्तःकरणकी अवस्था 'तुर्यगा' भूमिका कही जाती है।

ब्रह्मकी दृष्टिमें संसारका अत्यन्त अभाव है। उपर्युक्त महात्मा पुरुष उस सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको नित्य ही प्राप्त है। अतः उसके मन-बुद्धिमें भी शरीर और संसारका अत्यन्त अभाव है। इसलिये ऐसे पुरुषको ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहते हैं।

ऐसे ही ब्रह्मविद्वरिष्ठ महापुरुषसे वार्त्तालाप न होनेपर भी उसके दर्शन और चिन्तनसे ही मनुष्यके चित्तमें मल, विक्षेप और आवरणका नाश होनेसे उसकी वृत्ति परमात्माकी ओर आकृष्ट होनेपर उसका कल्याण हो सकता है।

इसलिये अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंको विवेक-वैराग्यपूर्वक सच्चिदानन्दघन परमात्माके ध्यानमें निरन्तर स्थित रहनेके लिये तत्परतासे प्रयत्न करना चाहिये।

प्रभु निरन्तर मुझे अपनी सेवाका अवसर प्रदान कर रहे हैं

सच्चे सफल एवं यथार्थ सुखमय जीवनके लिये मैं भगवान्‌पर अपने मनको केन्द्रित कर जीवनमें प्राप्त प्रत्येक परिस्थितिके लिये भगवान्‌का कृतज्ञ होता हूँ तथा उसके द्वारा भगवान्‌की यथासम्भव सेवाकर उसका सदुपयोग करता हूँ। 'अभावके रूपमें भगवान् ही हमारे सामने उपस्थित होते हैं'—संतोंके इस आदेशके अनुसार अपने सामने उपस्थित होनेवाली प्रत्येक अभावकी परिस्थितिको अपनी सामर्थ्यके अनुसार भगवत्-रूप मानकर उसे सच्चे अर्थमें पूरा करनेका प्रयत्न करता हूँ। ऐसा करके भी मैं अपनेमें किसी भी प्रकारकी श्रेष्ठताकी गंध भी नहीं आने देता, प्रत्युत प्रभुकी शक्ति ही सब-कुछ कर रही है ऐसा मानता हूँ। प्रभुकी प्रत्येक वस्तु प्रभुकी सेवामें प्रयुक्त हो रही है, ऐसा अनुभव कर उस वस्तुके सम्यक् रक्षणके उत्तरदायित्वसे अपनेको मुक्त हुआ मानता हूँ और इस विचारसे हृदयमें अत्यन्त प्रसन्न होता हूँ कि प्रभुने अपनी सेवामें मुझे स्वीकार कर लिया है, प्रभु निरन्तर मुझे अपनी सेवाका अवसर प्रदान कर रहे हैं।

पूर्णब्रह्म परात्पर राम

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

इधर कई विद्वानोंने रामायणपर अनुसंधान-कार्य किया है। इनमेंसे अधिकांश लोगोंने रामको साधारण मनुष्य सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। एक संधानकर्ता महोदयकी बड़ी प्रशंसा है। उन्होंने अधिकांश राम-कथाओंका आलोकन किया है, पत्र-पत्रिकाओंतकको नहीं छोड़ा है। पर ये इसी निष्कर्षपर पहुँचे कि वेदोंमें जहाँ 'सीता' या 'राम' शब्द आया है, वह अन्य अर्थमें है। वाल्मीकिरामायणके रामको अवतार बतलानेवाले सभी स्थल क्षेपक हैं। महाभारतके भी ऐसे स्थल पीछेसे जोड़े हुए हैं। बौद्ध जातकग्रन्थों तथा जैन-ग्रन्थोंमें रामकी ईश्वरता नहीं कही गयी। कथाएँ भी सब एक-सी नहीं मिलतीं। अतः सिद्ध है कि रामकथाकी कल्पना सर्वप्रथम वाल्मीकिने की और उसी आधारपर अन्य लोगोंने भी अपनी सूझ-बूझके अनुसार इस दिशामें कुछ श्रम किया। अन्तमें रामको ईश्वर मान लिया गया।

ऐसे अनुसंधानोंका अन्त नहीं। कईने तो महर्षि-वाल्मीकिको दक्षिण तथा मध्यभारतके भूगोलसे भी अनभिज्ञ लिखनेकी धृष्टता की है।[1] कइयोंने लङ्काको ही मध्यभारतमें ला पटका है।[2] श्रीमाधवराव किबेके अनुसार रावणकी लङ्का अमरकण्टक पहाड़पर स्थित थी। प्रोफेसर जैकबीके अनुसार लङ्का कहीं आसाममें थी।[3] सीलोनको लङ्का माननेवाले तो बड़ी उदारता करते हैं। यदि ये विचार छपते नहीं तो कोई विशेष बात नहीं थी। किंतु आज प्रकाशनका युग है। सब चीजें छपकर प्रचारित तथा प्रसारित हो जाती हैं। इससे अनजान लोगोंको ईसाई बनाने तथा अन्य धर्मोंमें अन्तरित करनेमें सहायता मिलती है। साधारण साधक तथा श्रद्धालु व्यक्तियोंको भी बड़ी ठेस लगती है, अतः इसपर विचार करना परमावश्यक हो जाता है।

वस्तुतः विधर्मियोंका रामकथा-विषयक अनुसंधानका उद्देश्य ही इसकी निस्सारता दिखलाकर अपनी ओर आकृष्ट करना रहा है और इसका प्रयास बहुत दिनोंसे चल रहा है। परिणामतः अनेक भारतीय हिंदू ईसाई, मुसल्मान आदि बन गये और अनेक भारतीय विद्वान् उन्हींके मतसे प्रभावित होकर वैसा ही अनुसंधान करने लगे। यदि इन विद्वानोंको सच्ची जिज्ञासा होती तो इनके समाधानके लिये एकमात्र पूज्यपाद गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज ही पर्याप्त थे। यद्यपि आज उनका शरीर हमारे बीचमें नहीं है, तथापि उनकी भास्वती भगवती अनुकम्पा, उनकी प्रतिभा, व्यवसायात्मिका बुद्धि, विचार, उनकी वाङ्मयी मूर्ति हमारे सामने ही हैं। उन्होंने अपना सारा जीवन रामचरितको ही सुनने, गाने, मनन करने तथा लिखनेमें समर्पण कर दिया था। उनकी प्रतिज्ञा ही थी—'स्रवनन्हि और कथा नहिं सुनिहौं रसना और न गैहौं।' उन्होंने किसीसे भी कम अनुसंधान तथा भगवच्चरित्रमय साहित्यका आलोडन नहीं किया था। वे रामचरितके परम रसज्ञ थे और इसमें अवगाहन करते हुए कभी भी तृप्त नहीं होते थे। इन विभिन्न रामचरित्रोंके श्रद्धापूर्वक मनन-पठनसे उन्हें पूर्ण विश्रान्ति तथा सुख-शान्ति प्राप्त हुई थी—

'सुनत श्रवन पाइअ बिश्रामा।'
'बुध बिश्राम सकल जन रंजनि।
रामकथा कलिकलुष निकंदनि।'
'···पायउ परम बिश्राम···।'
······'स्वान्तस्तमःशान्तये।
भाषाबद्धमिदं चकार तुलसी-
दासस्तथा मानसम्।'
'स्वान्तस्सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा-
भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति।'

—इत्यादि उनके वचनोंसे यह अत्यन्त स्पष्ट है। रामचरित्रमें संदेह उनके निर्देशानुसार घोर क्लेश तथा खेदका कारण होता है। 'खेदखिन्न मन तर्क बढ़ाई।' संसारी व्यक्ति गुरुके बिना कभी श्रीरामभद्रका रहस्य नहीं समझ सकता—

'ते किमि जानहिं रघुपतिहि मूढ़ परे तम कूप।'
'गुरु बिनु भवनिधि तरइ न कोई।'

---

१. देखिये श्रीबुल्केकी रामकथा पृ० ११८।

२. एम्० वी० किबे—इण्डियन हिस्टारिकल कार्टरली, भाग ४ पृ० ६९३–७०२; एपिक ऐंड पुरानिक स्टडिज—भांडारकर इंस्टिच्युट—पृ० १३७–१३८।

३. देखिये—'कल्याण', रामायणाङ्क—पृ० ३१७।

और वास्तवमें इन अनुसंधानाभिमानियोंके मोहमय तमसाच्छन्न अनर्गल उन्मत्तालापको पढ़कर साधारण साधकको भीषण ग्लानि तथा मानसिक अशान्ति होती ही है।

सबसे बड़े आश्चर्यकी बात तो यह है कि इन दुर्लक्ष्यपूर्ण अन्वेषकोंके तर्कोंमें कोई दम नहीं है। वाल्मीकि-रामायणमें प्रायः एक हजार वचन ऐसे हैं, जिनसे श्रीरामकी परमोपास्यता सिद्ध है। पर ये गवेषक उन सभीको प्रक्षिप्त मानते हैं। जहाँ भक्तसमुदाय वाल्मीकिके प्रत्येक श्लोकको मङ्गलमय परमात्माका वाङ्मय विग्रह, तथा—

चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्।
एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्॥

—के अनुसार प्रत्येक अक्षरको महापातक-नाशक मानकर पढ़ता-सुनता है, वहाँ ये विपरीत दिशामें ही प्रयत्नशील हैं। किंतु विचारणीय है कि तृणमूलफलाशी, परमनिष्काम वनवासी तपस्वीको शतकोटि श्लोकोंमें किसी साधारण नरके चरित्रचित्रणमें निष्प्रयोजन आयु नष्ट करनेका क्या तुक हो सकता है। स्पष्ट है कि जिन श्रीरामके नामको उलटा जपनेसे वे व्याधकी चिन्तनीय अवस्थासे महामुनिकी स्थितिको प्राप्त हुए, उनका चरित्रकीर्तन ही उनके द्वारा समुचित था। अतः परब्रह्म परमात्मा, सर्वोपरि श्रेष्ठतत्त्वका अनुसंधान-गान ही उन महाप्रतिभाशाली, परमबुद्धिमान्‌की बुद्धिमत्ताके उपयुक्त कार्य होता और वही अन्य श्रेष्ठ कवियोंके भी अनुरूप था। फिर यदि इनके मतानुसार एक हजार श्लोक प्रक्षिप्त हैं तो दूसरोंके मतानुसार अन्य कई हजार श्लोक जिनमें श्रीरामके ईश्वरत्वका उल्लेख नहीं है, वे प्रक्षिप्त माने जा सकते हैं। फिर तो रामायणका अस्तित्व ही न रह जायगा। जब भौगोलिक स्थिति दस-पाँच वर्षोंमें, साधारण भूकम्पादिसे ही कुछ-की-कुछ हो जाती है, तब दो करोड़ वर्षोंकी भौगोलिक स्थितिकी आजके चश्मेसे कैसे परीक्षा ली जा सकती है। भला, महाभारतके रामावतारप्रतिपादक वचनोंको प्रक्षिप्त कहना कितने दुस्साहसकी बात है! महाभारत भगवान् व्यासकी रचना है। उन्होंने सभी पुराणों तथा महाभारतमें भी दशावतारोंका कीर्तन तथा यशोगान किया है। महाभारतके प्रतिपाद्य तत्त्व ही भगवान् श्रीकृष्ण हैं। विष्णु, वाराह, वामन, कूर्म, मत्स्य, ब्रह्म आदि पुराणोंका नामकरण ही अवतारोंके नामपर है। प्रायः सभी पुराणोंमें ही बार-बार रामचरित्रका समास या विस्तारसे वर्णन है। यह क्षेपक-शङ्का पिशाची कहाँतक जायगी? ये पुराण ही वस्तुतः वेदार्थ हैं। प्रायः प्रत्येक पुराणके ही उपोद्घातमें व्यासदेवने चेतावनी दी है—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥

वेदोंका अर्थ पुराणोंद्वारा ही समझा जाय, अन्यथा कोई लाभ न होगा।

श्रीरामके पूर्णब्रह्मत्वप्रतिपादक इतने ग्रन्थ हैं और इतने वचन हैं, जिनका संग्रह करनेका साहस नहीं हो सकता। 'धर्मात्मा सत्यसंधश्च रामो दाशरथिर्यदि। पौरुषे चाप्रतिद्वन्द्वः शरैनं जहि रावणिम्' यह श्लोक वाल्मीकि युद्धकाण्ड, अध्यात्म और आनन्दादि कई रामायणोंमें आया है। इस वचनके प्रभावसे लक्ष्मणके बाणने मेघनादका वध कर दिया। इससे रामका विश्वमें सर्वातिशायी पौरुष सिद्ध है, जो विना ब्रह्मके सम्भव नहीं। अगस्त्यसंहितामें श्रीरामको सभी अवतारोंका मूल बतलाया गया है—

सर्वेषामवताराणामवतारी रघूत्तमः।
रामपादनखज्योत्स्ना परब्रह्मेति गीयते॥

यहाँ श्रीरामकी नखज्योत्स्नाको परब्रह्म कहकर श्रीरामको ही एकमात्र सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। इसमें भक्त्यतिशयता ही हेतु है। बृहद्ब्रह्मसंहितामें एक ऐसा वचन मिलता है, जिसमें सभी अवतारों तथा ब्रह्म-विष्णु-महेशद्वारा साकेतमें श्रीरामको सेव्य बतलाया गया है—

'तस्मिन्साकेतलोके विधिहरहरिभिः संततं सेव्यमाने
दिव्ये सिंहासने स्वे जनकतनयया राघवः शोभमानः।
युक्तो मत्स्यैरनेकैः करिभिरपि तथा नारसिंहैरनन्तैः
कूर्मैः श्रीनन्दनन्दैर्हयगलहरिभिर्नित्यमाज्ञोन्मुखैश्च॥
यज्ञः केशववामनौ नरवरौ नारायणो धर्मजः
श्रीकृष्णो हलधृक् तथा मधुरिपुः श्रीवासुदेवोऽपरः।
एते नैकविधा महेन्द्रविधयो दुर्गादयः कोटिशः
श्रीरामस्य पुरो निदेशसुमुखा नित्यास्तदीये पदे॥

वाराहसंहितामें भी 'नारायणोऽपि रामांशःशङ्खचक्रगदाधरः' विष्णुको श्रीरामांश बतलाया है। सुन्दरीतन्त्र, आनन्दसंहिता, रामोपनिषद्में ऐसे अनगिनत वचन हैं। हनुमत्संहिता, हनुमदुपनिषद् तथा ज्यौतिषके परम प्रामाणिक ग्रन्थ पराशरमुनिप्रणीत बृहत्पाराशर-होराशास्त्रमें भी श्रीरामको सभी अवतारोंमें श्रेष्ठ बतलाया गया है। वहाँके वचन हैं—

अवताराण्यनेकानि ह्यजस्य परमात्मनः।
जीवानां कर्मफलदो ग्रहरूपी जनार्दनः॥
दैत्यानां बलनाशाय देवानां बलवृद्धये।
धर्मसंस्थापनार्थाय ग्रहा जाताः शुभाः क्रमात्॥
रामोऽवतारः सूर्यस्य चन्द्रस्य यदुनायकः।
नृसिंहो भूमिपुत्रस्य बुद्धः सोमसुतस्य च॥
वामनो विबुधेज्यस्य भार्गवो भार्गवस्य च।
कूर्मो भास्करपुत्रस्य सैंहिकेयस्य सूकरः॥

(बृहत्पारा० होरा १। २६-२९)

वाल्मीकिरामायणकी 'शिरोमणि'नामक टीकाकी प्रस्तावना, कृष्णाङ्क पृ० १६६–६७, मानसपीयूष—बालकाण्ड, प्रथम भाग, पृ० २४९ आदि स्थलोंपर भी श्रीरामकी महत्ता प्रतिपादित है।

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके मतानुसार भी भगवान् राम ब्रह्मा-विष्णु-शंकरके ब्रह्मत्वादिके कारण हैं—

'हरिहि हरिता, बिधिहि बिधिता, सिवहि सिवता जो दई।
सोइ जानकी-पति मधुर मूरति, मोदमय मंगल मई॥'
जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा॥
बिष्नु कोटिसत पालनकर्ता। रुद्रकोटि सत सम संहर्ता॥
सारद कोटि अमित चतुराई। बिधि सत कोटि सृष्टि निपुनाई॥

अन्तमें वे इन सब उपमाओंको भी श्रीरामके लिये न्यून ही बतलाते हैं—

जिमि कोटि सत खद्योत सम रबि कहत अति लघुता लहै।

कुछ पुराणों तथा श्रीतुलसीदासजीके भी कुछ ग्रन्थोंमें श्रीरामको महाविष्णुका अवतार बतलाया गया है। इसपर लोगोंका कहना है कि इस उक्तिमें एक प्रकारका 'वदतो व्याघात' दोष आता है; किंतु ऐसी बात नहीं है। वास्तवमें महाविष्णु तथा शंकर भी ब्रह्मके ही स्वरूप हैं। साथ ही इसमें कल्पभेदकी भी बात है। इसपर 'नारद बचन सत्य सब करिहउँ' तथा 'मोर साप करि अंगीकारा'आदि चौपाइयोंकी 'मानसपीयूष' व्याख्यामें अनेकानेक विद्वानोंका श्रद्धेय मत देखने योग्य है।

श्रीरामनामको भी प्रायः सभी जाप्योंमें श्रेष्ठ बतलाया गया है। इसके प्रतिपादक वचन असंख्य हैं। सभी लोग मानते हैं कि रामका लक्ष्यार्थ परब्रह्म है। नानक, कबीर आदि निर्गुणोपासक तथा सूरदासजी-जैसे कृष्णोपासकोंने भी श्रीरामनामके महिमा-वर्णनमें अनगिनत पद लिखे हैं। कुछ लोग रामचन्द्रजीको १२ कलाका अवतार बतलाते हैं; किंतु तुलसीदासजी तो 'बालचरितमय चंद्रमा यह सोलह कला निधान।' (गीतावली) लिखकर उन्हें १६ कलायुक्त ही बतलाते हैं। अतः श्रीरामोपासकोंको अपनी साधनामें इन अनर्गल प्रलापोंसे तनिक भी शिथिलता नहीं आने देनी चाहिये। अनधिकारियोंको तो संदेह होना तथा विपरीत परिणामपर पहुँचना उचित ही है—

उमा राम गुन गूढ़ पंडित मुनि पावहिं बिरति।
पावहिं मोह बिमूढ़ जे हरि बिमुख न धर्म रति॥

कौन तुम ?

कौन तुम जो साथ रहते ?
नित्य, पलभर भी न हटते, देखते सब, कुछ न कहते॥
मैं मुखर करता अवज्ञा घोर अवहेला सदा ही,
मूढ़तापर मुसकरा देते, सभी चुपचाप सहते॥
कभी जो गिरने लगा मैं अन्ध अपनी मूर्खतासे,
तुरत दे करका सहारा तुम बचा लेते, सहमते॥
नहीं आते सामने पर सदा सब संभाल रखते,
हो अनोखे सत्य-स्नेही जो कभी बदला न चहते॥

* मानसपीयूषके पूर्वोक्त स्थलपर भी इस पदका यही अर्थ माना गया है।

जीवन-दर्शन

[संसारमें रहनेका तरीका]

(लेखक—श्रीदीनानाथजी सिद्धान्तालंकार)

प्रजापति अपने आश्रममें ब्राह्मवेलासे पद्मासनपर विराजमान हैं। एक ओर मृगशावक स्वच्छन्दभावसे खेल रहे हैं और दूसरी ओर शिष्यगण विनम्रभावसे आचार्यके संकेतकी प्रतीक्षामें बैठे हैं। वातावरण कुछ देरतक सर्वथा निःस्पन्द रहा। अपने नेत्रोंको अर्ध-उन्मीलित करते हुए आचार्यने एक शिष्यकी ओर प्रश्नसूचक दृष्टिसे देखा। शिष्य बोला—'गुरुवर! धृष्टता क्षमा हो। कल आपने तपके विषयमें उपदेश दिया था। आज हमें जीवन-दर्शन समझाइये, ताकि आपके श्रीचरणोंसे विदा होकर जब हम शिष्य संसारमें जायँ, तब हमें जीनेकी विद्याका कुछ परिचय प्राप्त हो जाय।'

मानव-जीवनकी श्रेष्ठता

प्रजापति—सबसे पहले तुमको यह निश्चितरूपसे समझ लेना चाहिये कि यह मानव-जीवन विश्वमें सर्वश्रेष्ठ है। इस मानव-देहको—'देवमन्दिर', 'अमृतकुम्भ', 'दैवी नाव' इत्यादि नामोंसे शास्त्रोंमें कहा गया है। संसार-सागरको पार करनेके लिये इससे अधिक अच्छा अन्य कोई साधन नहीं है। वेदमें इस शरीरको 'देवोंकी नगरी' कहा गया है।

शिष्य—तो क्या हम इस शरीरको पुष्ट करना और अलंकृत करना ही अपना ध्येय समझें?

प्रजापति—नहीं, यह शरीर तो साधन है। इसकी विशिष्टता तभीतक है, जबतक इसमें आत्माका निवास है। आत्माके चले जानेके बाद तो यह शरीर—चाहे वह कितना ही स्वस्थ और सुन्दर क्यों न हो—मिट्टीके सदृश हो जाता है और उसे जल्दी-से-जल्दी घरसे बाहर निकालकर अग्निके भेंट कर दिया जाता है।

शिष्य—तो फिर इस मानव-शरीरकी क्या सार्थकता हुई?

प्रजापति—मानवशरीरकी सार्थकता इसीमें है कि मोक्षकी और आनन्दकी प्राप्ति तथा भगवान्‌के दर्शन इसी शरीरमें स्थित हृदय, आत्मा या अन्तःकरणद्वारा कर सकते हैं। किसी पशु-पक्षी और कीट-पतंगके शरीरद्वारा यह लक्ष्य-सिद्धि कभी नहीं हो सकती। इसलिये प्रातःकाल उठते ही मनुष्यको यह सोचना चाहिये कि—

> उत्थायोत्थाय बोद्धव्यं किमद्य सुकृतं मया।
> आयुषः खण्डमादाय रविरस्तं गमिष्यति॥

'जाग-जागकर मनुष्य यह सोचे कि मैंने आज कौन-कौन अच्छे काम किये हैं; क्योंकि आयुके एक दिनको लेकर आज शामको सूर्य अस्त हो जायगा।'

शिष्य—आपके एक शिष्य विरोचन हैं। वे आपके आश्रमसे बाहर जाकर यह प्रचार कर रहे हैं कि 'यह शरीर ही सब कुछ है, इसको खूब मोटा-ताजा और सुन्दर बनाओ। बस, यही जीवनका लक्ष्य है। इसके बाद दूसरा शरीर मिलेगा या नहीं, यह कौन जानता है।' भगवन्! विरोचन यह भी कहते हैं कि 'यदि आत्मदर्शन और मोक्ष-प्राप्ति करनी भी है तो वह बुढ़ापेमें करनी है, जवानी तो खाने-पीने और मौज करनेकी उम्र है।'

शिष्यकी इस युक्ति और विरोचनके प्रचारकी बात सुन प्रजापति कुछ मुस्कराये और दृढ़ स्वरमें बोले—'वत्स! विरोचन इस आश्रममें कुछ दिन ही रहा था। उसका सहपाठी इन्द्र था। विरोचन राक्षसोंका और इन्द्र देवताओंका प्रतिनिधि था।। दोनोंको मैंने एक साथ शिक्षा दी, पर विरोचन एक दिन आधी शिक्षा सुनकर ही भाग गया और यह प्रचार करने लगा कि यह शरीर ही सब कुछ है। इन्द्रने पूरे समयतक शिक्षा प्राप्त की और वह मेरी शिक्षाओंका ठीक प्रकारसे प्रचार कर रहा है। इन्द्रने विरोचनको कई बार समझाने, बैठकर इस सम्बन्धमें पूरा विचार करने और निर्णय करनेके लिये बुलाया; पर वह कभी सामने नहीं आता और इधर-उधर लुक-छिपकर ऐसे भ्रमपूर्ण मिथ्या सिद्धान्तोंका प्रचार करता रहता है।

प्रजापति बोले—विरोचनका यह कहना सर्वथा युक्तिहीन और प्रमाणशून्य है कि यही जीवन है और इसके बाद क्या होगा—कौन जानता है। क्या कभी बिना पूँजीके भी कोई कारोबार प्रारम्भ करता है? क्या कभी बिना नींवके भी मकान खड़ा किया जाता है? केवल न जाननेसे ही किसी सत्यका अभाव नहीं माना जा सकता। हम अपनी पीठको ही नहीं देख सकते, अपने शरीरके अंदर होनेवाली हजारों क्रियाओंको नहीं देख और जान सकते, तब क्या इससे ही उनका अभाव हो जायगा? कई योगी और विद्वान् पुरुष

पिछले जन्मोंकी बात अन्तश्चक्षुसे जान भी जाते हैं। यदि पिछला कोई जन्म न हो तो बालक पैदा होते ही रोता क्यों है? और स्वयमेव माताके दूधको कैसे पीना शुरू कर देता है? इसलिये यह विश्वास करना चाहिये कि यह जीवन अनन्त जीवन-शृङ्खलाकी एक कड़ी है।

विरोचनकी यह बात कि जवानीमें विषयोंका मजा लूट लो और बुढ़ापेमें भक्ति कर लेंगे—केवल अपनेको धोखा देना है। पहली बात तो यह है—

यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः॥

'जबतक यह शरीर स्वस्थ है और बुढ़ापा दूर है, जबतक इन्द्रियोंकी शक्ति कम नहीं हुई है और आयुका ह्रास नहीं हुआ है, तभीतक मनुष्यको चाहिये कि वह आत्म-कल्याण कर ले। मकानमें आग लगनेपर कूँआ खोदनेसे क्या लाभ हो सकता है?'

दूसरी बात यह कि मनुष्यकी आयु समाप्त हो जाती है, पर संसारके विषय समाप्त नहीं हो सकते—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः॥
(भर्तृहरि)

'भोग समाप्त नहीं हुए, पर हमीं समाप्त हो गये; तप नहीं किया गया, पर हमीं विषयोंसे संतप्त हो गये; काल नहीं गया, पर हमीं चल दिये; तृष्णा बूढ़ी नहीं हुई, हमीं बूढ़े हो गये।'

प्रजापतिने कहा—सौम्य! मैं तुमसे कह रहा था कि सबसे पहले इस मानव-जीवनकी श्रेष्ठतामें दृढ़ आस्था रखनी चाहिये। जब तुम विश्वासपूर्वक यह मान लोगे, तब इस प्राप्त अवसरसे अधिक-से-अधिक लाभ उठानेका प्रयत्न करोगे। शास्त्रोंमें मानव-योनिकी श्रेष्ठतापर बहुत बल दिया गया है।

इसी जगत्में रहना होगा

प्रजापतिने इसी प्रसङ्गको जारी रखते हुए कहा—दूसरी बात मानवको यह समझ लेनी चाहिये कि उसे इसी जगत्में रहना है, उसका स्वर्ग और नरक यहीं है। जैसे मछलीका समूचा जीवन जलके भीतर ही है और जलसे बाहर निकलते ही उसका अन्त हो जाता है, इसी प्रकार मानवका सारा जीवन इसी पृथ्वीपर है, इसी संसारमें है और इसी दुनियामें है। ईश्वरके कोई पृथक् विभाग नहीं हैं। वेदका उपदेश है—

इह त्वा भूर्या चरेदुपत्मन् दोषावस्तर्दीदिवांसमनुद्यून्।
क्रीलन्तस्त्वा सुमनसः सपेमाभि द्युम्ना तस्थिवांसो जनानाम्॥
(ऋग्० ४।४।९)

'हे मनुष्य! तू प्रतिदिन—दिन-रात—इसी संसारमें अपने चमकनेवाले आत्मासे बहुत पदार्थोंको जान। तू धन, यश, तेजको दृढ करता हुआ, अच्छे मनवाला होकर सब जनोंके साथ दृढ़ रहता हुआ प्रभुको पूजनेवाला बन।'

केन-उपनिषद्में भी बहुत सुन्दर ढंगसे उपदेश दिया गया है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः। भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥ (२।५)

'मनुष्य! यदि तूने इस जन्ममें और इस संसारमें रहते हुए ही आत्मतत्त्व जान लिया, तब तो ठीक है; नहीं जाना तो महा-विनाश है। उत्तम पुरुष इस विश्वके जड-चेतन पदार्थोंको जानकर इसी परिणामपर पहुँचे हैं कि मूल-तत्त्व यही है। ऐसे उत्तम पुरुष ही इस लोकके बाद अमृतपदको प्राप्त होते हैं।'

शिष्य—भगवन्! एक शङ्का है।

प्रजापति—वत्स! कहो, क्या शङ्का है?

शिष्य—इस दुनियाको ही अगर सब कुछ मान लें, तब इससे छुटकारा कैसे होगा?

प्रजापति—इस संसारसे तो जीवित रहते हुए एक क्षण भी छुटकारा सम्भव नहीं है। कोई भी प्राणी और मनुष्य तो सर्वथा नहीं एक क्षणके लिये निश्चेष्ट रह सकता है। जब इस संसारमें रहना ही है, तब क्यों न अच्छा बनकर रहा जाय!

प्रजापतिने आगे कहा—निरन्तर प्रयत्न और दृढ़ संकल्प तथा श्रद्धाकी भावनाके साथ जो साधना करता है, वह उच्चतम पदको प्राप्त करता है। वेद भगवान्के शब्दोंमें—

अयुतोऽहमयुतो म आत्मायुतम्।
अयुतोऽहं सर्वः॥ (अथर्व० १९।५१)

'मैं अनन्त शक्तिवाला हूँ, मेरा आत्मा अनन्त शक्तिवाला है, मैं सब ओरसे अनन्तशक्तियुक्त हूँ।'

शिष्योंको सम्बोधित करते हुए प्रजापतिने अन्तमें कहा—'इस जीवनमार्गपर चलते हुए तुम निश्चय ही विजयको प्राप्त करोगे।'



भरद्वाज-आश्रममें श्रीभरतजीका अनुपम आतिथ्य

(लेखक—कुँवर श्रीराजेन्द्रसिंहजी, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके वनवासके कारण भरतजीकी मनोव्यथा अपनी चरम सीमापर पहुँच गयी थी, उनके हृदयमें विरहजन्य दावाग्नि बराबर धधकती रहती थी। उन्होंने महाराज वसिष्ठजी, माता कौसल्याजी, सचिवगण तथा प्रजाके इस प्रस्तावकी कि वे राज्यासन ग्रहण करें, अवहेलना करके यही निश्चय किया कि—

देखें बिनु रघुनाथ पद जिय कै जरनि न जाय।

—और अयोध्याके समस्त समाजके साथ चित्रकूटकी ओर प्रस्थान किया। मार्गमें प्रभुके स्मारकोंको देखकर वे बड़े विह्वल हो जाते थे। शृङ्गवेरपुरमें जिस शिंशपावृक्षके नीचे प्रभुने विश्राम किया था, उसके दर्शन करके उनकी आत्मग्लानिकी सीमा नहीं रही थी। प्रयागराजमें त्रिवेणीमें स्नान करते समय उन्होंने जिन प्रेमविगलित शब्दोंमें यह वरदान माँगा था कि—

सीताराम चरन रति मोरें। अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरें।
जलदु जनम भरि सुरति बिसारउ। जाचत जलु पबि पाहन डारउ॥
चातकु रटनि घटें घटि जाई। बढ़ें प्रेमु सब भाँति भलाई॥
कनकहिं बान चढ़इ जिमि दाहें। तिमि प्रियतम पद नेम निबाहें॥

—उनकी समानतामें विश्वका साहित्य कोई उदाहरण प्रस्तुत करनेमें असमर्थ है। फिर वे महर्षि भरद्वाजजीके आश्रममें पहुँचे। महर्षिने उनका स्वागत अपूर्व ढंगसे किया और 'भरत-यश-चन्द्र'का साङ्गोपाङ्ग वर्णन करके अपनी वाणीकी सार्थकताको प्रमाणित किया। पारस्परिक कथोपकथनके उपरान्त भरतजीको पूर्णरूपसे सान्त्वना देकर और यह कहकर कि—

तात करहु जनि सोचु बिसेषी। सब दुखु मिटिहि राम पग देखी॥

मुनिवरने कहा कि जिस प्रकार भगवान्‌को प्रेम ही प्रिय है, उसी प्रकार परम भागवत होनेसे तुम भी केवल प्रेमके ही ग्राहक हो; क्योंकि—

सुर साधु चाहत भाउ सिंधु कि तोष जल अंजलि दिए।

हम इस योग्य तो नहीं हैं कि तुम्हारी पहुनाई करें; हमारे पास तो केवल प्रेम ही है। उसीके निहोरे हम प्रार्थना करते हैं कि तुम हमारे प्रेमके अतिथि होओ। हम कन्द-मूल, फल-फूल—जो कुछ दें, उसे कृपा करके अङ्गीकार करो।

महर्षि भरद्वाजजीका यह प्रेम-निमन्त्रण पाकर भरतजी बड़े असमञ्जसमें पड़ गये। उनके प्रभु भगवान् श्रीरामचन्द्रजी भगवती श्रीसीताजी और अनुज लक्ष्मणजीके सहित वन-वनमें नाना भाँतिके कष्ट सहन करते हुए विचरण कर रहे हैं और उनके वियोगमें स्वयं भरतजी और अयोध्यावासी नर-नारी व्रत करनेका नियम लिये हुए हैं। वे सभी—

पय अहार फल असन एक निसि भोजन एक लोग।
करत राम हित नेम ब्रत परिहरि भूषन भोग॥

फिर भरतजी अकेले नहीं हैं। उनके साथ अयोध्याका सारा राजसमाज है, ब्रह्ममण्डल है, परिजन और पुरजन हैं, पूरा रनिवास है, राज्यकी सेना तथा नाना प्रकारके वाहन आदि हैं। इतनी बड़ी भीड़के सत्कारमें महर्षि भरद्वाजजीको भी बड़ा कष्ट सहना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त यह बात कुछ बड़ी अशोभन-सी लगती है कि इस घोर दुःखके समय भरतजी सारे समाजके साथ आतिथ्य ग्रहण करें। उनके सेवक-धर्ममें एक विपर्यय-सा उपस्थित होता है। एक ओर तो यह संकोच है और दूसरी ओर गुरुतुल्य महर्षिकी अवज्ञाका प्रश्न है। भरद्वाजजीने बड़े प्रेमसे यह प्रेमका निमन्त्रण दिया है। उनके इस प्रेमका निरादर भी तो नहीं किया जा सकता। भरतजी इस समय बड़ी दुविधामें पड़ गये। वे विचार करने लगे और विचार करते-करते उनको यह स्मरण हो आया कि कुछ इसी प्रकारकी मनःस्थितिमें भगवान् शंकरजीको भी पड़ना पड़ा था; और उन्होंने भी यही निर्णय किया था कि—

सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा। परम धरमु यह नाथ हमारा॥

अस्तु, महर्षि भरद्वाजकी वाणी ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। उसका समादर करना ही सब प्रकारसे उचित है। उसका पालन बिना किसी प्रकारका विचार किये ही करना चाहिये—'गुरोराज्ञा गरीयसी।' यह निश्चय करके भरतजीने भरद्वाजजीके चरणोंकी वन्दना की और हाथ जोड़कर अत्यन्त विनीत भावसे अक्षरशः वे ही शब्द कहे, जो श्रीशंकरजीने भगवान् श्रीरामचन्द्रजीसे कहे थे। वास्तवमें भरतजीको इस समय महर्षि भरद्वाजजीके विग्रहमें प्रभुकी मूर्तिके ही दर्शन हो रहे हैं। विनयपत्रिकामें कहा भी है—

प्रभु के बचन बेद बुध सम्मत, मम मूरति महिदेवमई है।

जिस प्रकार श्रीशंकरजीके स्वीकृति-सूचक वचन सुनकर भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको संतोष हुआ था—

प्रभु तोषेउ सुनि संकर बचना।

उसी प्रकार भरतजीके वचन भी मुनिश्रेष्ठ भरद्वाजजीको मनभावन लगे। वे भी प्रसन्न हुए और उन्होंने अपने पवित्र सेवकों और शिष्योंको निकट बुलाया। स्मरण रहे कि वही सेवक शुचि और वही शिष्य सत्-शिष्य कहा जा सकता है, जो अपने प्रभुके आज्ञा-पालनमें मनसा-वाचा-कर्मणा सदैव तत्पर रहता है और जिसके लिये सब धर्मोंसे बड़ा धर्म यही है कि स्वामीकी आज्ञाको शिरोधार्य करनेमें किसी प्रकारका आगा-पीछा न करे। महर्षिने उनसे कहा कि भरतजीकी पहुनाई करनी चाहिये; उसके लिये कन्द, मूल और फल जाकर ले आओ। शिष्यों और सेवकोंने 'नाथ! बहुत अच्छा।' कहकर सिर नवाया और बड़ी प्रसन्नतासे जिसको जो काम सौंपा गया, उसको करनेके लिये चले। महर्षि भरद्वाजजी उदासीन भावसे सदैव तपस्यामें निरत वनमें ही रहते थे। उनके पास न किसी प्रकारकी कोई राजोचित सामग्री रहती थी और न उसकी कभी कोई आवश्यकता ही पड़ती थी। वे स्वयं कन्द, मूल और फलको ही अपने व्यवहारमें लाते थे और उनके सेवकों और शिष्योंको भी इन्हीं वस्तुओंको वनसे लानेका अवसर पड़ता था। उनमेंसे कुछ कन्द, कुछ मूल और कुछ फलके लानेकी सेवा करते थे और एक प्रकारसे अपने-अपने कामके विशेषज्ञ हो गये थे। इसी कारणसे उनको इस समय अलग-अलग काम भी सौंपा गया और वे अपने-अपने कामको करनेके लिये बड़ी प्रसन्नतासे चले। एक तो वे सभी शुचि सेवक थे, अपने स्वामीके आज्ञापालनमें, उनकी सेवामें, वे जो कुछ करते थे, सदैव प्रसन्न होकर ही करते थे; दूसरे इसी समय तो उनको भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके छोटे भाई, परम भागवत श्रीभरतजीके आतिथ्यके लिये सामग्री संचित करना है। अस्तु, उनकी प्रसन्नताका क्या कहना! इन शुचि सेवकोंने भरद्वाजजीसे यह भी नहीं पूछा 'कि आपके अतिथि तो करोड़ोंकी संख्यामें हैं, उनके लिये पर्याप्त मात्रामें कन्द-मूल-फल हम लायें तो कहाँसे लायें।' बात यह है कि ये सब सेवक भरद्वाजजीके शिष्य हैं और उनका अपने गुरुकी कृपामें अटूट विश्वास है। वे जानते हैं कि गुरुकी कृपासे संसारमें कुछ भी दुर्लभ नहीं है।

महर्षि भरद्वाजजीने अपने सेवकों और शिष्योंको भेज तो दिया, परंतु वे विचार करने लगे कि 'आज हमारे आमन्त्रित अतिथि हैं महाभाग भरतजी! कन्द-मूल-फलका जो सत्कार हम करने जा रहे हैं, वह तो उनकी महानताके अनुरूप नहीं है। जैसा देवता हो, वैसी ही उसकी पूजा भी होनी चाहिये। हमारा आजका अतिथि तो बहुत बड़ा है, परंतु उसकी पूजाकी सामग्री बहुत ही तुच्छ है।' जान पड़ता है कि भरतजीके आगमनपर जिस प्रकार सब देवता आकाशमें आकर उपस्थित हो गये थे, उसी प्रकार अणिमादिक ऋद्धि-सिद्धियाँ भी महर्षि भरद्वाजजीके आश्रममें एकत्रित हो गयी थीं और इस प्रतीक्षामें थीं कि कदाचित् हमको भी कुछ सेवाका सौभाग्य प्राप्त हो जाय। ऐसा लगता है कि महर्षि भरद्वाजजीको अपने अतिथिके योग्य पहुनाईकी चिन्तामें सोच हुआ तो वे जोरसे बोल उठे कि 'हमारे निमन्त्रणका अतिथि तो बहुत बड़ा है और नियम यह है कि देवताके पूजनके लिये उसके अनुरूप ही पूजन-सामग्री भी होनी चाहिये।' अणिमादिक ऋद्धि-सिद्धियोंने यह बात सुनी तो उनको अपने जीवनके सफल करनेका अवसर मिला। वे तुरंत भरद्वाजजीके पास गयीं और निवेदन किया कि 'हे गोसाईं! हे प्रभु!! जो आज्ञा हो, उसका हम पालन करें।'

ऋद्धि-सिद्धियोंकी यह प्रार्थना सुनकर मुनिश्रेष्ठ भरद्वाजजीका सोच मिट गया। उन्होंने प्रसन्न होकर कहा कि 'अपने छोटे भाई शत्रुघ्नजी और अयोध्याके समाजके सहित भरतजी राम-विरहमें व्याकुल हैं। उनकी पहुनाई, उनका अतिथि-सत्कार करके उनके श्रमको दूर करो।' पूज्य गोस्वामीजी आगे कहते हैं —

रिधि सिधि सिर धरि मुनिबर बानी। बड़भागिनि आपुहि अनुमानी॥
कहहिं परसपर सिधि समुदाई। अतुलित अतिथि राम लघु भाई॥
मुनि पद बंदि करिय सोइ आजू। होइ सुखी सब राज समाजू॥
अस कहि रचेउ रुचिर गृह नाना। जेहि बिलोकि बिलखाहिं बिमाना॥
भोग बिभूति भूरि भरि राखे। देखत जिन्हहि अमर अभिलाषे॥
दासीं दास साजु सब लीन्हें। जोगवत रहहिं मनहि मनु दीन्हें॥
सब समाजु सजि सिधि पल माहीं। जे सुख सुरपुर सपनेहुँ नाहीं॥
प्रथमहिं बास दिए सब केही। सुंदर सुखद जथा रुचि जेही॥

ऋद्धि-सिद्धियोंने महर्षि भरद्वाजजीके वचनोंको शिरोधार्य किया और अपनेको बड़ी भाग्यवती समझा। सब सिद्धियाँ आपसमें एक-दूसरेसे कहती हैं कि 'भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके छोटे भाई ऐसे अतिथि हैं, जिनकी तुलना नहीं हो सकती।' यह कहकर वे एक ओर तो अपने परम सौभाग्यकी सराहना करती हैं कि 'हमारे बड़े भाग्य हैं जो आज हमको ऐसे अनुपम अतिथिकी सेवा करनेका अवसर मिला' और दूसरी ओर वे मानो इङ्गित करती हैं कि 'अयोध्याके जिस

राज्यकी सराहना देवराज इन्द्र करते रहते हैं और जिसकी सम्पन्नताके सम्मुख कुबेर भी लज्जित हो जाते हैं, उसका भी त्याग करनेवाले, रामप्रेममें विभोर, परम भागवत भरतजीका आतिथ्य हमको करना है। परंतु हममें यह शक्ति कहाँ कि हम राम-विरहमें व्याकुल भरतजीका श्रम निवारण कर सकें।' वे मानो कहती हैं कि 'भरतजीकी तो बात अलग है; हाँ, राजसमाजको हम कदाचित् सुखी करनेमें समर्थ हो सकें। परंतु वह भी साधारण कार्य नहीं है, उसके लिये भी हमको मुनिश्रेष्ठ भरद्वाजजीके चरणोंकी वन्दना करके विशेष बल प्राप्त करना चाहिये।' बात यह है कि सिद्धियोंकी शक्तिका मूल उद्गमस्थान स्वामिनी श्रीसीताजीके चरण-कमल हैं। अस्तु, जो भक्त माताके चरणोंमें अनुरक्त हैं, उन्हींमें यह सामर्थ्य है कि वे सिद्धियोंको बल दे सकें। इसीसे वे भरद्वाजजीकी चरण-वन्दना करनेका निश्चय करती हैं। इस कारणसे ऋद्धि-सिद्धियाँ कहती हैं कि 'मुनिके चरणोंकी वन्दना करके हमको आज वही करना चाहिये, जिससे राजसमाज सुखी हो।'

यों कहकर ऋद्धि-सिद्धियोंने बहुत-से सुन्दर-सुन्दर घर रचकर बनाये, जिनको देखकर देवताओंके निवास-स्थान—विमान लज्जित होकर मानो रोते हैं। इन सुन्दर घरोंमें भोग और ऐश्वर्यकी ऐसी सामग्री भर कर रखी थी कि जिसको देखकर देवतागण भी ललचाने लगते हैं और उनके भी हृदयमें यह अभिलाषा होने लगती है कि हम भी यदि इस समाजमें होते तो हमको भी इस ऐश्वर्यके भोगका अवसर मिलता। इन घरोंमें ऐसी दास-दासियाँ नियुक्त हैं, जो सब सामग्री लिये हुए, लोगोंके मनसे अपने मनको एकाकार करके उनके मनको ताकती रहती हैं कि जिस समय जिस किसीके मनमें, जिस किसी वस्तुके लिये रुचि उत्पन्न हो, हम बिना माँगे ही वह वस्तु प्रस्तुत कर दें। जो सुख देवलोकमें स्वप्नमें भी नहीं है, उसकी उपलब्धिका सब साज-सामान पलभरमें साजकर सिद्धियोंने सबसे पहले सबको उनकी रुचिके अनुकूल सुन्दर और सुखदायक निवास-स्थान दिये।

पाठकोंको स्मरण होगा कि विवाहके अवसरपर परिक्रमाके समय भी कहा है कि—

मधुपर्क मंगल द्रव्य जो जेहि समय मुनि मन महुँ चहैं।
भरे कनक कोपर कलस सो तब लिएहिं परिचारक रहैं॥

उस समय भी भगवती सीताजीके प्रभावसे सिद्धिरूपी सेवक उपस्थित थे।

बहुरि सपरिजन भरत कहुँ रिषि अस आयसु दीन्ह।
बिधि बिसमय दायकु बिभव मुनिबर तपबल कीन्ह॥

ऋद्धि-सिद्धियोंकी जहाँतक गति थी और उनको जो करना था, उन्होंने किया। नाना प्रकारके सुन्दर-सुन्दर गृहोंका निर्माण किया, उनमें सुरदुर्लभ भोगकी सामग्री प्रचुरमात्रामें भर-भरकर रख दी, सेवाके लिये मनकी गतिको जाननेवाले दास-दासियोंकी नियुक्ति की और सबको अपनी-अपनी रुचिके अनुकूल निवास-स्थान दिया। यह सब सेवा पुरवासियोंकी हुई, जिनके लिये सिद्धियोंने 'राज-समाज' शब्दोंका प्रयोग किया था। स्वयं भरतजी और उनके कुटुम्बीजनने ऋद्धि-सिद्धियोंकी ओर देखातक नहीं। मुनिश्रेष्ठ भरद्वाजजीने तब अपने तपोबलसे ऐसे वैभवकी सृष्टि की, जिसको देखकर स्वयं विधाताको आश्चर्य होने लगा। ब्रह्माजीको अपना रचना-कौशल अत्यन्त तुच्छ जान पड़ने लगा। बात यह है कि भरद्वाजजीने ऋद्धि-सिद्धियोंसे कहनेको तो कह दिया कि 'रामविरहसे व्याकुल भरतजी तथा उनके छोटे भाई और उनके साथके समाजका श्रम निवारण करो।' परंतु वे जानते थे और ऋद्धि-सिद्धियाँ भी समझती थीं कि राज-समाजका श्रम चाहे उनकी सेवासे शमन हो जाय; परंतु भरतजी और उनके परिवारके लोगोंके लिये वे चाहे जो कुछ करें, वह निरर्थक होगा। भरद्वाजजीका तपोबल ऐसा उत्कृष्ट था कि जो वैभव ऋद्धि-सिद्धियोंकी तो बात ही क्या, स्वयं ब्रह्माजी भी प्रस्तुत करनेमें असमर्थ थे, उसको उन्होंने उत्पन्न कर दिया। उन्होंने सोचा कि जब ब्रह्मलोकके ऐश्वर्यमें ही किसी प्रकारका शोक-श्रम नहीं रह सकता तब उससे भी श्रेष्ठतर वैभवके मध्य अपनेको पाकर भरतजी और उनके परिजनोंका श्रम कदाचित् निवारण ही हो जाय। अस्तु, इस प्रकारके, ब्रह्माजीको आश्चर्यमग्न करनेवाले वैभवको प्रकट करके मुनिवर भरद्वाजजीने भरतजीको कुटुम्बसहित उनके लिये निर्धारित निवास-स्थानमें ठहरनेकी आज्ञा दी।

महर्षि भरद्वाजजीने अपने तपोबलसे कैसे वैभवकी सृष्टि की, इसका वर्णन आगेकी चौपाइयोंमें है—

मुनि प्रभाउ जब भरत बिलोका। सब लघु लगे लोकपति लोका॥
सुख समाज नहिं जाइ बखानी। देखत बिरति बिसारहिं ग्यानी॥
आसन सयन सुबसन बिताना। बन बाटिका बिहग मृग नाना॥
सुरभि फूल फल अमिअ समाना। बिमल जलासय बिबिध बिधाना॥
असन पान सुचि अमिअ अमी से। देखि लोग सकुचात जमी से॥
सुर सुरभी सुरतरु सबही कें। लखि अभिलाषु सुरेस सची कें॥

रितु बसंत बह त्रिबिधि बयारी । सब कहँ सुलभ पदारथ चारी ॥
स्रक चंदन बनितादिक भोगा । देखि हरष बिसमय बस लोगा ॥

पाठकोंको स्मरण होगा कि महर्षि भरद्वाजजीने भरतजीसे अपनी धारणा इन शब्दोंमें बतायी थी—

तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू । धरें देह जनु राम सनेहू ॥

यह राम-स्नेह जब भरद्वाजजीकी भावनाके अनुसार शरीरधारी होकर भरतजीके विग्रहके रूपमें उत्पन्न हुआ, तब जिस प्रकार भरतजीको भरद्वाजजीका 'आयसु' इस कारणसे अधिक महत्त्वपूर्ण जान पड़ा था कि उन्होंने उसको प्रभुकी ही आज्ञा समझा था, उसी प्रकार महर्षिकी दृष्टिमें भरतजी भी साक्षात् भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके रूपमें दिखायी देने लगे । यों भी भरतजी और श्रीरामचन्द्रजीका स्वरूप एक-सा ही था ।

भरत राम ही की अनुहारी । सहसा लखि न सकहिं नर नारी ॥

महर्षि भरद्वाजजीको आज उन भरतजीका सत्कार करना है, जो भगवान्‌से सर्वथा अभिन्न हैं और जिनके विग्रहमें मुनिवरको अखिलब्रह्माण्डनायक सर्वेश्वर साकेतविहारी भगवान्‌के दर्शन हो रहे हैं । ऋद्धि-सिद्धियोंने जो सामग्री प्रस्तुत की थी, वह देवलोककी थी; उससे भरतजी या उनके कुटुम्बियोंका किसी प्रकारसे मनोरञ्जन न हुआ, उन्होंने उसकी ओर दृष्टिपाततक न किया । यहाँ एक रहस्यकी बात है । जब साकेतविहारी भगवान् रामका पृथ्वीपर प्राकट्य होता है, तब उनके नित्य पार्षदगण ही उनके कुटुम्बियोंके रूपमें जन्म लेते हैं । वे भगवान्‌का सामीप्य छोड़ ही नहीं सकते । भरतजी और उनके परिजनोंके प्रति महर्षि भरद्वाजजीकी ऐसी ही भावना हो गयी कि मानो साक्षात् परम प्रभु एवं उनके नित्य सहचर पार्षदगण आ गये हों । अस्तु, मुनिराजने अपनी तपस्याके प्रभावसे मानो एक दूसरे साकेतकी ही रचना कर डाली । उनको इस रचनाके करनेके समय यह भूल-सा गया कि प्रभु नरलीला करनेके लिये अवतीर्ण हुए हैं और माधुर्यभावसे अनुप्राणित होकर मनुष्योंके अनुरूप ही सब व्यवहार कर रहे हैं । प्रभुका माधुर्यभाव भरद्वाजजीको विस्मरण हो गया और उसका स्थान ले लिया ऐश्वर्यभावने । अस्तु, उन्होंने देवलोक, इन्द्रलोक और ब्रह्मलोकसे भी ऊँचे, देवताओं, देवराज इन्द्र और ब्रह्माजीको भी दुर्लभ, साकेतके ऐश्वर्यके समान, प्रचुर मात्रामें सभी दिव्य ऐश्वर्य प्रस्तुत कर दिये ।

जब भरतजीने मुनिका यह प्रभाव देखा, तो उन्हें सभी लोकपालोंके लोक तुच्छ लगने लगे । इस प्रसङ्गमें यह स्मरण रखना आवश्यक है कि भरद्वाजजीकी जैसी धारणा भरतजीके प्रति है, उसके सर्वथा विपरीत, भरतजी अपनेको तुच्छातितुच्छ एक क्षुद्र प्राणीमात्र समझते हैं और अपनेको कलङ्कका अवतार मानते हैं ।

सुखकी सामग्रियाँ जो इस समय एकत्रित थीं, उनका वर्णन नहीं किया जा सकता । वे ऐसी हृदयग्राही और आकर्षक थीं कि उन्हें देखकर ज्ञानीजन वैराग्यको भूल जाते थे । वैराग्यकी परिपक्व अवस्थामें ही ज्ञानकी उपलब्धि होती है । बिना वैराग्यकी पुष्ट साधनाके ज्ञान हो ही नहीं सकता । ज्ञानीकी सबसे मूल्यवान् सम्पत्ति वैराग्य ही है । इसी वैराग्यके आश्रयसे ज्ञानी ब्रह्मसुखके अनुपम सुखका अनुभव करते हैं—

ब्रह्मसुखहि अनुभवहिं अनूपा ।

इस समय भरद्वाजजीके तपोबलसे ऐसे सुख-समाजकी सृष्टि हुई कि उसको देखकर ज्ञानी अपने ब्रह्मानन्दके सुखको तुच्छ मानने लगे, उनका वैराग्य विस्मरण होने लगा । वास्तवमें साकेतके समान परमानन्दकी सामग्रीके सम्मुख ब्रह्मानन्दका सुख और उस सुखका मूलभूत वैराग्य ठहर ही कहाँ सकता है ।

दिव्य आसन (शय्या), सुन्दर वस्त्र, परम शोभासम्पन्न चँदोवे, नन्दनकाननके समान वन, जिसमें नाना प्रकारके मृग विहार कर रहे हैं, देवदुर्लभ सुन्दर वाटिका, जिसमें भाँति-भाँतिके पक्षी अपनी सुन्दर तानसे मानो प्रभुका गुणगान कर रहे हैं, जिसके वृक्षोंमें परम सुगन्धमय पुष्प प्रफुल्लित हो रहे हैं और अमृतके समान अनेक प्रकारके स्वादयुक्त मधुर और सरस फल फले हुए हैं तथा निर्मल जलसे परिपूर्ण जलाशय, परम पवित्र और अमृतके भी अमृत, सुधासारसदृश खाने और पीनेके पदार्थ ऐसे विलक्षण थे कि उनको देखकर संयमी भी सकुचाने लगे । अयोध्यावासी नर-नारी सभी संयमके नियममें इस समय बँधे हुए हैं, वे सभी भूषण और भोगका त्याग किये हुए हैं । इन दिव्य पदार्थोंको देखकर उनको इसका संकोच हो रहा है कि ये हमारी वृत्तियोंको आकर्षण करके कहीं हमारे संयममें बाधा न उपस्थित कर दें, कहीं हमारा व्रत भङ्ग न हो जाय ! इतना ही नहीं, सभीके निवास-गृहोंमें पृथक्-पृथक् कामधेनु और कल्पवृक्ष हैं, जिनको देखकर देवराज इन्द्र और उनकी धर्मपत्नी देवी शचीको भी इसकी अभिलाषा होती है कि हमको भी कहीं भोग-पदार्थ मिल जाते । वास्तवमें, साकेतके-से वैभव और ऐश्वर्य, कामधेनु और कल्पवृक्षको देखकर इन्द्र और इन्द्राणी ईर्ष्या-सी करने लगे और उनको अपना ऐश्वर्य तुच्छ जान पड़ने लगा । ऋतुराज

वसन्तका समागम है और शीतल, मन्द, सुगन्ध पवन बह रहा है। सभीको अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष सुलभ हो रहे हैं—और सुलभ क्यों न हों? काम और अर्थके देनेवाले कामधेनु और कल्पवृक्ष हैं ही, और भगवत्-प्रेमकी मन्दाकिनी जो इस समय प्रवाहित हो रही है, वह सभी धर्मोंको देनेवाली है। रहा मोक्ष, वह तो महर्षि भरद्वाजजी-ऐसे संतोंके सत्सङ्ग-के प्रभावसे मानो सबके सम्मुख हाथ जोड़े खड़ा है। सुन्दर-काण्डमें कहा गया है—

तात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

जब साकेतके समान सभी सुखदायक पदार्थ इस प्रकार उपलब्ध हो गये, तब वहाँके निवासियोंके नित्य व्यवहारकी वस्तुएँ—सुगन्धित मालाएँ और चन्दन—क्यों रह जायँ; वे भी प्रस्तुत हो गये। कोमल, मधुर कण्ठसे भगवान्‌की गुणावलीका गान करनेवाली और साकेतवासी परम सौभाग्यवान् भगवान्‌के नित्य सहचरोंके हृदयोंके तार-तारको, भगवत्-प्रेमसे परिपूर्ण अपनी स्वरलहरीसे झंकृत करनेवाली दिव्य महिलाओं अर्थात् अप्सराओंके बिना कुछ अपूर्णता रह जाती—अस्तु, वे भी आ गयीं और इस प्रकार भोगकी सभी सामग्रियाँ प्रस्तुत हो गयीं। इनको देखकर सभी लोग हर्ष और विस्मयसे अभिभूत हो गये। हर्ष तो इस पृथ्वीपर साक्षात् साकेतके अनुरूप सुख-समाजको देखकर हुआ और विस्मय महर्षि भरद्वाजजीके तपका प्रभाव देखकर।

इस प्रसङ्गमें यह शङ्का की जा सकती है कि महर्षि भरद्वाजजी सर्वज्ञ होते हुए भी क्या यह न जान पाये कि जिसकी भगवान् श्रीरामजीके चरणकमलोंमें भक्ति है, वह इन भोगादिकी तो बात ही क्या, मुक्तिका भी निरादर कर देता है—'मुकुति निरादर भगति लोभाने'—फिर अयोध्यावासी इन सब वस्तुओंका उपभोग कैसे कर सकते हैं? वे तो भगवान्‌के अत्यन्त प्रिय हैं। उनके लिये स्वयं श्रीमुखवाक्य है—

अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी। मम धामदा पुरी सुखरासी॥

वास्तवमें बात यह है कि भरद्वाजजीने स्वयं कहा था कि 'तस पूजा चाहिअ जस देवता।' उन्होंने यह सब सामग्री यह समझकर नहीं प्रस्तुत की थी कि भागवतश्रेष्ठ भरतजी उसका उपभोग अवश्य करेंगे। वे तो उसी भावसे अनुप्राणित थे, जिस भावसे एक उच्च कोटिका आराधक अपने आराध्य-की पूजाके लिये अपनी श्रद्धा और भक्तिके प्रतीकस्वरूप सर्वोत्कृष्ट और अच्छी-से-अच्छी वस्तुएँ, जो वह पा सकता है, प्रस्तुत करके स्वयं संतोष प्राप्त करता है और कृतकृत्य हो जाता है।

एक बात और है। इस प्रसङ्गमें वनिताओंकी चर्चा करके यह भी दिखाया गया है कि भोगकी सभी सामग्रीकी उपेक्षा भी भगवद्भक्त कर देते हैं। त्यागका महत्त्व पूर्णरूपसे प्रमाणित हो गया। सहृदय पाठकोंको यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि भक्तिके प्रभावसे ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो दुर्लभ हो और विलासकी ऐसी कौन-सी सामग्री है, जो भक्तको आकर्षित कर सके। पूज्य गोस्वामीजी आगे कहते हैं—

संपति चकई भरतु चक मुनि आयस खेलवार।
तेहि निसि आश्रम पिंजराँ राखे भा भिनुसार॥

देवलोक और साकेतकी-सी समस्त भोग-सामग्री ऋद्धि-सिद्धियोंने और भरद्वाजजीके तपोबलने प्रस्तुत कर दी। परंतु किसीने उसको ग्रहण नहीं किया। पुरजन तो थोड़ी देरके लिये उसको देखकर इस संकोचमें भी पड़े कि कहीं हम इन प्रलोभनोंमें फँस न जायँ और हमारे नियम-व्रतके पालनमें बाधा न पड़े; परंतु भरतजीने उनकी ओर देखातक नहीं। परिणाम यह हुआ कि सारी भोग-सामग्री ज्यों-की-त्यों रखी रही और भरतजी उन सब उपादानोंसे पृथक् ही रहे। महर्षि भरद्वाजजीकी आज्ञासे भरतजी इस समस्त भोग-सामग्रीके समीप बैठे तो रहे, परंतु उसकी ओर भूलकर भी दृष्टिपाततक नहीं किया। वे मानो सम्पत्तिसे वियोगी ही बने रहे। पूज्य गोस्वामीजीने इस स्थानपर बड़े सुन्दर सम अभेद-रूपकका उदाहरण प्रस्तुत किया है। प्रकृतिका यह नियम है कि रात्रिके समय चकवा और चकईका संयोग नहीं होता—वे परस्पर वियोगी ही बने रहते हैं। यदि कोई खेलवाड़ करनेवाला व्यक्ति चकवा और चकईको पकड़कर रात्रिमें एक ही पिंजरेमें बंद कर दे, तो भी उनके नियममें बाधा न पड़ेगी। वे एक दूसरेसे उदासीन ही बने रहेंगे। यही दशा इस समय भरतजी और इन सब देवदुर्लभ प्रसाधनोंकी हुई। सारी सम्पत्ति मानो चकई है, भरतजी चकवा हैं और महर्षि भरद्वाजजीकी आज्ञा वह खेल करनेवाला व्यक्ति है, जिसने इन चकवा-चकवीको आश्रमरूपी पिंजरेमें रात्रिके समय एक साथ बंद कर दिया है। परंतु भरतरूपी चकवा सम्पत्तिरूपिणी चकईकी ओरसे मुख फेरे हुए उदासीन ही रहा। उसने अनुरक्त होना तो दूर रहा, उसकी ओर मुँह उठाकर देखा तक नहीं। इसी पारस्परिक वियोगकी दशामें सारी

रात्रि व्यतीत हो गयी और प्रातःकाल हो गया। भरतरूपी कोकको तो भानुकुल-भानुके बिना सभी कुछ अन्धकारमय दिखायी देता है। विना उन प्रभाकरके दर्शन हुए वे किसी प्रकारके भोग-विलासरूपी कोकीकी ओर दृष्टिपाततक नहीं कर सकते। मुनिकी आज्ञासे उन्होंने इन विधाताको भी विस्मय-में डालनेवाले पदार्थोंके समीप रहना तो स्वीकार कर लिया, परंतु मुनिवरका सारा प्रयास एक कौतुक-सा होकर रह गया।

इस प्रसङ्गमें यह स्मरण रखना आवश्यक है कि भरतजीने भरद्वाजजीद्वारा प्रस्तुत सामग्रीकी उपेक्षा तो की, परंतु उनकी आज्ञाका निरादर नहीं किया। पूर्व प्रसङ्गसे यह स्पष्ट है कि भरद्वाजजीने भरतजीको यही निमन्त्रण दिया था और इसीको भरतजीने स्वीकार भी किया था—

कंद मूल फल फूल हम देहिं लेहु करि छोहु।

बस, उन्होंने केवल वही ग्रहण किया। और सब सामग्री तो केवल भरतरूपी महान् देवताकी पूजाके लिये अपने हृदय-की उल्लसित भावनाकी परितुष्टिके हेतु भरद्वाजजीने प्रस्तुत की थी और यही उसकी सार्थकता थी। भरतजीके त्याग-की पुष्टिमें मगवासिनी स्त्रियाँ भी आगे चलकर कहती हैं—

चलत पयादें खात फल पिता दीन्ह तजि राजु।
जात मनावन रघुबरहि भरत सरिस को आजु॥

एक बात और है। महर्षि भरद्वाजजीके पास भरतजी अकेले ही गये थे और अकेलेमें ही भरतजी और भरद्वाज-जीके बीचका संवाद हुआ। पुरजन, परिजन आदिको न तो भरद्वाजजीके निमन्त्रणका पता था और न उनको यह ज्ञात था कि भरतजीने केवल फल-फूल तथा कन्द-मूलका ही आतिथ्य स्वीकार किया है। अस्तु, इन सब लोगोंने जो त्याग किया, वह बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है।

धन्य हैं श्रीभरतजी और धन्य है अयोध्याका समाज, जिनमें ऐसे अनन्य भगवत्-प्रेमके दर्शन होते हैं।*

बोलो श्रीअनन्त युगलसरकारकी जय।

ऋग्वेदीय मन्त्रद्रष्टा

(लेखक—ऋग्वेद-भाष्यकर्ता पं० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी)

[गताङ्क पृष्ठ ८६० से आगे]

पुरुकुत्स ऋषिके सहायक इन्द्र थे (१ । ६३ । ७)। अश्विद्वयने इनकी रक्षा की थी (१ । ११२ । ७)। इनके अश्वके रक्षक भी ये ही थे (१ । ११२ । २१)। पुरुकुत्स बंदी हो गये थे। दुर्गहके पुत्र पुरुकुत्सकी स्त्रीकी प्रार्थनापर सप्तर्षियोंने यज्ञ करके त्रसदस्यु नामका पुत्र स्त्रीके लिये प्राप्त किया था (४ । ४२ । ८-९) । पुरुकुत्स गिरिक्षिति-गोत्रीय थे।

इनके पुत्र त्रसदस्यु थे। इनके रक्षक इन्द्र थे (७ । १९ । ३) । १० । ३३ । ४ में कहा गया है कि ये कुरुश्रवण राजाके पिता थे। सोभरि ऋषिका कहना है कि पुरुकुत्सके पुत्र त्रसदस्युने मुझे ५० मित्र दिये हैं। वे बड़े दानी, आर्य और स्तोत्रपालक हैं। त्रसदस्यु राजा महान् दानी थे (४ । ३८ । १)। त्रसदस्युके पुत्र तृक्षिको अश्विद्वयने प्रचुर धन दिया था (८ । २२ । ७)। त्रसदस्युको इन्द्रने धन प्रदान किया था (वालखिल्य १ । १०)। युद्धके समय अग्निने त्रसदस्युकी रक्षा की थी (१० । १५० । ५)। ४ । ४२ सूक्त और मतान्तरमें ५ । २७ तथा ९ । ११० के ऋषि त्रसदस्यु हैं।

त्रिवृष्णके अपत्य राजर्षि त्र्यरुणने शकट-युक्त दो बैल, दो अश्व, बीस गौएँ और दस हजार स्वर्ण दान किये थे (५ । २७ । १-२) । कुछके मतसे ५ । २७ और ९ । ११० के ऋषि त्र्यरुण हैं।

अश्वमेध भरतके अपत्य थे। वे किसी याचकको खाली हाथ नहीं जाने देते थे। ये सौ-सौ बैल एक साथ देते थे (५ । २७ । ४—६)। किसीके मतसे ५ । २७ के ये ही ऋषि हैं। कहते हैं—पुरुकुत्स, त्रसदस्यु, त्र्यरुण और अश्वमेध क्षत्रिय थे।

भरतके पुत्र देवश्रवा और देववात अरणि-मन्थनसे अग्नि उत्पन्न करते थे (३ । २३ । २-३) । भरतवंशीय विपाशा

* लेखकके अप्रकाशित ग्रन्थ 'भक्तिचिन्तामणि' अथवा 'मानसमें श्रीभरत-चरितामृत' से संकलित।

(व्यास) और शुतुद्रु (सतलज) के पार चले गये थे (३ । ३३ । १-२)। ये ३ । २३ के ऋषि हैं। ये क्षत्रिय तो थे; परंतु पता नहीं, सूर्यवंशमें थे, चन्द्रवंशमें थे अथवा किस वंशमें थे। भरत नामके राजा इन सभी वंशोंमें थे।

कक्षीवान् उशिज्-पुत्र कहे गये हैं (१ । १८ । १)। ये वृद्ध राजा थे (१ । ५१ । १३)। १ । ११७ । ६ में ये आङ्गिरस कहे गये हैं। १ । १२० । ५ में ये वज्रवंशी कहे गये हैं। सिन्धु-निवासी स्वनय राजासे कक्षीवान्‌ने सौ बैल, सौ घोड़े, १०६० गायें, दस रथ, सौ निष्क दानमें पाये थे (१ । १२६ । २-३)। ४ । २६ । १ में ये दीर्घतमाके पुत्र कहे गये हैं। ये अश्विद्वयके विशिष्ट स्तोता थे (८ । ९ । १०)। अश्विद्वयने इन्हें नवयौवन दिया था (१० । १४३ । १)। ये १ । ११६—१२५ और ९ । ७३ के ऋषि हैं। १० । १३१ के ऋषि इनके पुत्र सुकीर्ति और १० । १६९ के इनके पुत्र शबर हैं। उद्धरणोंसे ज्ञात होता है कि कक्षीवान् नामके कई पुरुष थे।

गोतम-पुत्र नोधा ऋषिने इन्द्र-पूजा करके महती शक्ति प्राप्त की थी (१ । ६१ । १४)। इन्होंने प्रिय वस्तुका आविष्कार भी किया था (१ । १२४ । ४)। १ । ५८—६४, ९ । ७७ और ९ । ९३ सूक्तोंके द्रष्टा नोधा हैं। इनके पुत्र एकद्यु ऋषि ८ । ६९ के द्रष्टा हैं। ये देव-तृप्तिकारक थे (८ । ६९ । १०)।

व्यश्वके पुत्र वैयश्व प्रख्यात स्तोता थे (८ । २४ । १४)। इस २४ वें सूक्तके ये ही ऋषि हैं। वैयश्वका ही नाम विश्वमना भी था। ये 'सर्वार्थ-दर्शक' कहे गये हैं (८ । २३ । २)। विश्वमनाके यज्ञमें इन्द्र पधारते थे (८ । २४ । ७)। ८ । २३—२६ सूक्तोंके ये ऋषि हैं।

रेभ ऋषिको बाँधकर एक राक्षसने कुएँमें फेंक दिया था। अश्विद्वयने उन्हें बचाया था (१ । ११२ । ५)। उस कुएँमें ये नौ दिन, दस रात पड़े थे। रेभके जो अङ्ग टूट गये थे, उन्हें औषधसे अश्विद्वयने ठीक किया था (१ । ११६ । २४; १ । ११३ । ४ और १२)। ये कश्यपगोत्रीय रेभ ऋषि इन्द्रके विशिष्ट भक्त थे (८ । ८६ । १२)। एक बार इन्हें शत्रुओंने मृत-प्राय करके गुफामें रख दिया था। अश्विद्वयने इनको उबारा था (१० । ३९ । ९)। ८ । ८६ के ये ऋषि हैं।

वन्दन ऋषि भी कूप-जलमें फेंके गये थे (१ । ११२ । ५; १ । ११६ । ११)। अश्विद्वयने इन्हें कूपसे निकाला था (१ । ११७ । ५; १ । ११८ । ६; १ । ११९ । ६ और १० । ३९ । ८)। वन्दनके पुत्र और इन्द्र-भक्त द्युवस्यु ऋषि १० । १०० के द्रष्टा हैं।

बृहस्पतिके ज्येष्ठ भ्राता उतथ्यके पुत्र दीर्घतमा थे। इनकी माता ममता थी। ये जन्मान्ध थे। प्रद्वेषीसे इनका विवाह हुआ था, जिससे गौतम आदि पुत्र उत्पन्न हुए थे। ऋग्वेदमें इससे मिलती-जुलती कथा है। परंतु उतथ्यको कहीं उक्थ्य लिखा गया है और कहीं उचथ।

दीर्घतमा तपोमूर्त्ति थे। बृहस्पतिके शापसे ये अंधे हुए थे। अग्निदेव और सोमदेवने शापसे मुक्तकर इन्हें आँखें दी थीं (४ । ४ । १३ और १० । २५ । ११)। उचथ-पुत्र दीर्घतमा १ । १५८ । १ में अश्विद्वयकी प्रार्थना कर रहे हैं। इसी सूक्तके ६ ठे मन्त्रमें कहा गया है कि 'दसवें काल (रात) के बीतनेपर ही ये जीर्ण हुए थे।' १ । १४०—१६४ सूक्तोंके मन्त्र-द्रष्टा ये ही हैं। विख्यात 'अस्य वामीय' सूक्तके द्रष्टा भी ये ही हैं।

परावृज लँगड़े थे, साथ ही अंधे भी थे। इन्द्रने इन्हें पैर और आँखें दी थीं (१ । ११३ । ८; २ । १३ । १२; २ । १५ । ७ और १० । २५ । ११)।

ऋजाश्व भी अंधे थे। अश्विद्वयने इन्हें नेत्र दिये थे (१ । ११२ । ८ और १ । १२० । ६)। १ । १०० सूक्तके द्रष्टाओंमें ये हैं। ये वृषागिर्‌के पुत्र कहे गये हैं।

ऋजिश्वा उशिज्‌के पुत्र थे। इनके पिता थे विदीथ। एक बार क्रुद्ध होकर इन्द्रने इन्हें बंदी बनाया था। (४ । १६ । १३)। पीछे प्रसन्न होकर इन्द्रने इनके लिये पिप्रु असुरको वशीभूत किया था (५ । २९ । ११)। ऋजिश्वा नामके दूसरे ऋषिने इन्द्रकी पूजा की थी (वहीं)। इन्द्रने इन्हें गौ और सुवर्ण दिया था। (वालखिल्य १ । १०) उशिज्-पुत्रने इन्द्रकी स्तुति करके वज्रद्वारा पिप्रुके गृहको विदीर्ण किया था (१० । ९९ । ११)। यही बात १० । १३८ । ३ में भी है। भरद्वाज-पुत्र ऋजिश्वा ६ । ४९ । ५२ और ९ । ९८ और १०८ के कुछ मन्त्रोंके द्रष्टा हैं। इस नामके कई ऋषि थे।

वसुक्रके पुत्र वसुकर्ण वसिष्ठवंशधर थे (१० । ६५ । १५)। ये समस्त भुवनोंमें विचरण करते थे (१० । ६६ । १५)। १० । ६५ । ६६ के ये वक्ता हैं। एक इन्द्रके पुत्र वसुक्र ऋषि १० । २७—२९ के द्रष्टा हैं।

वध्यश्वके पुत्र सुमित्र महान् याजक थे। सुमित्रने इन्द्रके लिये एक सौ स्तोत्र पढ़े थे। इनके भाई दुर्मित्रने भी पढ़े थे (१० । ६९ । ८–९ और १० । १०५ । ११)। १० । ६९-७० और १० । १०५ के ये ही ऋषि हैं।

१० । ८१-८२ के ऋषि भुवन-पुत्र विश्वकर्मा हैं। ये सृष्टि-कर्ता बताये गये हैं। इन्होंने स्वयं सारे संसारका हवन करके अग्निमें प्रवेश किया। फिर प्रथम जलको उत्पन्न किया। अनन्तर द्यावापृथिवीको बनाया। ये सबसे महान्, सर्व-श्रेष्ठ और सर्व-द्रष्टा हैं। ये उत्पादक और पालक भी हैं। देवोंके नाम-कर्ता भी ये ही हैं। विश्वकर्माकी नाभिमें ब्रह्माण्ड है। इन दोनों सूक्तोंमें स्वाधीन चिन्ताकी पराकाष्ठा है। दोनों कण्ठस्थ करने योग्य हैं। समस्त मन्त्र देखनेपर स्पष्ट विदित होता है कि ये विश्वकर्मा और कोई नहीं, साक्षात् परमात्मा हैं। ऐसा ही ८२ सूक्तके ७ वें मन्त्रमें कहा भी गया है—'जिन विश्वकर्माने सारे प्राणियोंको उत्पन्न किया है, उन्हें तुमलोग (मानव) नहीं जानते। तुम्हारा अन्तःकरण उन्हें समझनेकी शक्ति नहीं रखता। हिमरूप अज्ञानसे आच्छन्न होकर लोग नाना प्रकारकी कल्पनाएँ करते हैं। लोग अपना पेट पालते और केवल स्तोत्र करके स्वर्ग-प्राप्तिकी चेष्टा करते हैं—ईश्वर-तत्त्वका विचार नहीं करते।' 'विश्वकर्मा भुवन-पुत्र हैं' इसका आशय यह है कि जड-चेतनका रक्षण और सारे प्राणियोंकी परिचर्या परमात्मा वैसे ही करते हैं, जैसे पिताकी सेवा अहैतुकी की जाती है। ऋग्वेदके नासदीयसूक्त, पुरुषसूक्त, हिरण्यगर्भसूक्त और अस्यवामीयसूक्तके समान ही इन दोनों सूक्तोंका भी महत्त्व है।

विश्वकर्माका अर्थ भी ईश्वर है। पुराणोंमें सूर्य और देवशिल्पी विश्वकर्माको बताया गया है। इनके पिता प्रभासमरुत् और माता योगसिद्धा थीं। सूर्य-पत्नी संज्ञा इनकी कन्या थी। वृत्रासुरके वधके लिये इन्होंने ही दधीचिकी हड्डियोंसे वज्रास्त्र बनाया था। परंतु ऋग्वेदमें ऐसा कुछ नहीं है।

यमराज दक्षिण दिशाके दिक्पाल हैं। ये सूर्य-पुत्र हैं। सूर्यसे प्राप्त एक कुत्ता इनका साथी है। ये जीवोंके पाप-पुण्यके निर्णायक हैं। इनके मन्त्री चित्रगुप्त हैं। इन्हींके अवतार विदुर थे। इनके तेरह पुत्र थे। इनके प्रधान नाम हैं—यम, शमन, कृतान्त, अन्तक, दण्डधर, दण्डपाण, धर्मराज, पितृपति आदि। ये धर्मराजके रूपमें पुण्यका और यमराजके रूपमें पापका विचार करते हैं। ऋग्वेदमें ये वैवस्वत कहे गये हैं।

ऋग्वेदके १० वें मण्डलके १४ वेंसे १८ सूक्तोंमें यमराज, धर्मराज, यमधानी, नरक, स्वर्ग, पितर, कुक्कुर, स्वधा, कव्य, यमदूत, यमपुरीमार्ग, श्मशान, प्रेत, पिशाच, अग्निदाह, चिता आदिका विस्तृत विवरण है, जो यथेष्ट मनोरञ्जक और ज्ञातव्य है। स्थानाभावसे यहाँ विवरण नहीं दिया जा सका।

दशम मण्डलके १४ वें सूक्तके द्रष्टा वैवस्वत यम, १५ वेंके शङ्ख, १६ वेंके दमन, १७ वेंके मथित, १८ के संकुसुक और १९ के देवश्रवा हैं। ये शङ्ख आदि पाँचों ऋषि यमराजके पुत्र हैं। १० । १३५ के ऋषि यमगोत्रज कुमार हैं। १० । १८४ के त्वष्टा, ८-९ के त्वष्टृ-पुत्र त्रिशिरा, १० के यम-यमी, ४२-४३ के घोषा-पुत्र सुहस्त, ५३ के देववृन्द, ७९ के वाजम्भर-पुत्र सप्ति, ८० के सौचीक वैश्वानर, ८८ के मूर्द्धन्वान्, ९० के नारायण, ३७ के सूर्य-पुत्र अभितपा, १५८ के सूर्यपुत्र चक्षु, १८१ के सूर्य-पुत्र धर्म, १७० के सूर्यपुत्र विभ्राट्, ३५-३६ के धनाकपुत्र लुश, १११ के वैरूप अष्टादंष्ट्र, ११४ के वैरूप सध्रि, १२६ के शिलूषपुत्र कुल्मलबर्हिष, १३६ के जूति आदि, ११२ के विरोपगोत्रज नभःप्रभेदन, ११३ के शैवरूप शत-प्रभेदन, ११५ के वृष्टिहव्यपुत्र उपद्दुत, ११६ के स्थूलपुत्र अग्निषुत, ११८ के अमहीयगोत्रीय उरुक्षय, १४६ के इरसदपुत्र देवमुनि, १४७ के गिरीषपुत्र सुवेदा, १६६ के वैराजऋषभ, ११९ के उशीनरपुत्र शिवि, १८५ के वरुणपुत्र सत्यधृति, १६८ के वातगोत्रीय अनिल और १८६ के वातगोत्रीय उलऋषि हैं। १० । ८४ सूक्तके वाकपुत्र प्रजापति, १२९ के परमेष्ठी प्रजापति, १८३ के प्रजापति-पुत्र प्रजावान्, १३१ के हिरण्यगर्भ, १६१ के यक्ष्मनाशन, १३० के यज्ञ और १७७ के पतङ्ग ऋषि हैं। हिरण्यगर्भ आदि चारों प्रजापतिके पुत्र हैं। १० । ९३ सूक्तके पृथु-पुत्र ताम्व, ८१-८२ के सुकक्ष अथवा श्रुतकक्ष, ८३ के पूतदक्ष वा विन्दु, १३८ के उरुपुत्र अङ्ग, १३९ के विश्वावसु गन्धर्व, १४० के अर, १२४, १४१ और ५१-५२ के अग्नि आदि, १५६ के अग्निपुत्र केतु, १८८ के अग्निपुत्र श्येन, ४८–५० के इन्द्र, ३८ के मुष्कवान इन्द्र, ११९ के लवरूपी इन्द्र, १८० के इन्द्रपुत्र जय, १०२ के भर्माश्वपुत्र मुद्गल, ७६ के इरावान्के पुत्र जरत्कर्ण, १६५ के निर्ऋति-पुत्र

कपोत, ७१-७२ के लोकनानापुत्र बृहस्पति, १८२ के बृहस्पति-पुत्र तपुर्मूर्द्धा, १९१ के संवनन, १६२ के ब्रह्मपुत्र रक्षोहा, १०८ के पणिगण और सरमा, १४२ के जरिता आदि पक्षी, १४४ के तार्क्ष्य-पुत्र सुपर्ण, १७८के तार्क्ष्यपुत्र अरिष्टनेमि, ९० के अर्बुद और १७५ सूक्तके अर्बुद-पुत्र ऊर्ध्वग्रीवा ऋषि हैं।

जरिता आदि पक्षी गरुड़वंशीय हैं। गरुड़ दिव्यप्राणी और भगवत्संनिधानमें रहनेवाले हैं। इन पक्षियोंको साधारण पक्षी नहीं, दैवी समझना चाहिये। १०८ सूक्तके ऋषि आङ्गिरस दिव्य हैं; परंतु इसमें पणियों और सरमाकी उक्तियाँ हैं, इसलिये ये ही ऋषि कह दिये गये हैं। इसी प्रकार जिन सूक्तोंमें इन्द्र, अग्नि आदिके कथन हैं, उनके ऋषि ये ही कहे गये हैं। वस्तुतः केवल मन्त्रद्रष्टा ही ऋषि कहलाते हैं।

१। १६५ सूक्तके ऋषि इन्द्र, मरुत् और अगस्त्य—तीनों हैं; क्योंकि सूक्तमें तीनोंमें बातचीत हुई है। ९। ९७ (४ से ६ मन्त्रों) के ऋषि इन्द्र-पुत्र प्रभृति हैं। इन्द्र और इन्द्र-पुत्र वृषाकपि १०। ८६ के कुछ मन्त्रोंके ऋषि हैं। ४। १८ के ऋषि इन्द्र, अदिति और वामदेव हैं; क्योंकि इसमें तीनोंकी उक्तियाँ हैं। ९। ५०—५२ के उतथ्य, ३। ५४—५६ के विश्वामित्रपुत्र प्रजापति, ८। ६० के सुदिति, ६। ३५-३६ के नर, ६। ३३-३४ के शुनहोत्र और ६। ३१-३२ के सुहोत्र हैं। सुहोत्रके पुत्र अजमील्ह और पुरुमील्ह यशस्वी और ज्ञानी थे। इन्होंने श्यावाश्व ऋषिको सौ गायें और 'मूल्यवान्' धन प्रदान किया था (५। ६१। ९-१०)। ४। ४३-४४ के ऋषि ये ही हैं। ८। ९१ के बृहस्पतिपुत्र अग्नि, ९। १०६ (१—३ और १०—१४ मन्त्रों) के चक्षुःपुत्र अग्नि और ९। १०९ के ईश्वरपुत्र अग्नि ऋषि हैं। कदाचित् अग्नि नामके कई ऋषि थे। ९। ८६ (११—२० मन्त्रों) के सिकता और निवावरी, २१—३० मन्त्रोंके अज और पृश्नि, ४१—४५ के अत्रि, ४६—४८ के गृत्समद और शेषके आकृष्ट और माष ऋषि हैं। ८। ९ के कण्वगोत्रीय शशकर्ण तथा ९। ६६ के शतवैखानस ऋषि हैं।

भालन्दन वत्सप्रि ९। ६८ और १०। ४५—४६ सूक्तोंके ऋषि हैं। ऐतिहासिकोंके मतसे ये वैश्य थे।

चन्द्रवंशी राजा प्रतीपके पुत्र और भीष्मके पिता शंतनु थे। इन्हें स्पर्श करनेपर वृद्ध भी यौवन प्राप्तकर शान्त हो जाते थे; इसलिये इनका नाम शंतनु पड़ा। इनकी प्रथम पत्नी गङ्गादेवीसे भीष्म (देवव्रत) और द्वितीय पत्नी मत्स्यगन्धासे चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य हुए थे। इनके भाई थे देवापि, जो तपोबलसे विश्वामित्र और सिन्धुद्वीपके समान ब्राह्मणत्व प्राप्त कर चुके थे।

ऋग्वेदमें देवापिके पिता ऋषि ऋष्टिषेण कहे गये हैं। देवापि १०। ९८ के द्रष्टा हैं। इस ९८ सूक्तके ७ वें मन्त्रमें देवापिको शंतनुका पुरोहित बताया गया है। शंतनुके यज्ञमें देवापिने पौरोहित्य किया था। इस सूक्तमें इन दोनोंके सम्बन्धमें अनेक ज्ञातव्य विषय हैं। सायणाचार्यने शांतनुको कौरव बताया है। पूरा सूक्त द्रष्टव्य है।

१। १०० सूक्तके ऋषि अम्बरीष और सहदेव, ९। ९८ के वृषागिर् राजाके पुत्र अम्बरीष, ९। १०१ (४—६ मन्त्रों) के नहुषपुत्र ययाति, ९। १०८ के उरु, ऋतयशा और ऋणंजय, १। १२७—१३९ के दिवोदासपुत्र परुच्छेद, ९। ९६ के दिवोदासपुत्र प्रतर्दन, ९। १११ के परुक्षेप-पुत्र अनानत, १०। १३३ के पिजवनपुत्र सुदास, १०। १३४ के यौवनाश्व मान्धाता, १०। १७९ के द्वितीयमन्त्रके काशीनरेश प्रतर्दन और तृतीयके रोहिदश्वपुत्र वसुमना, १०। ३०—३४ के ईलूषपुत्र कवष और १०। ९१ के वीतहव्य-पुत्र अरुण ऋषि हैं। ऐतिहासिकोंके मतसे अम्बरीषसे अरुणतक सब क्षत्रिय ऋषि हैं।

क्षत्रिय और वैश्य ही नहीं, अनेक देवियाँ भी ऋषिकाएँ हो गयी हैं। १०। ९५ सूक्तमें राजा पुरूरवा और उर्वशीका कथोपकथन है। ९ मन्त्रोंमें उर्वशीकी उक्तियाँ हैं; इसलिये वह इन मन्त्रोंकी ऋषिका मानी गयी है। १०। १३४ के ७ वें मन्त्रकी ऋषिका गोधा है। ६। १० के द्वितीयमन्त्रकी ममता हैं। ८। १ के ३४ वें मन्त्रकी ऋषिका अङ्गिराकी पुत्री और असङ्गकी स्त्री शश्वती हैं। १। १२६ के ७ वें मन्त्रकी लोमशा, १०। १५४ की विवस्वान्की पुत्री यमी, १०। १२५ की आम्भृण-पुत्री वाक्, १०। १०९ की जुहू, ५। २८ की विश्ववारा, १०। १८९ की सार्पराज्ञी, ८। ८० की अत्रिपुत्री अपाला, १। १७९ के १-२ मन्त्रोंकी लोपामुद्रा, १०। ८५ की सूर्या, १०। १५३ की इन्द्रमाता, १०। १४५ और १०। ८६ के कुछ मन्त्रोंकी इन्द्राणी, १०। १५९ की पुलोमपुत्री शची तथा १०। १५१ की कामगोत्रीय श्रद्धा ऋषिका हैं। १०। ३९-४० सूक्तोंकी ब्रह्मवादिनी ऋषिका घोषा हैं। ये

कक्षीवान् ऋषिकी पुत्री थीं। इन्हें कुष्ठरोग हो गया था। ये बुढ़ापेतक पितृ-गृहमें अविवाहिता रहीं। इनका कोढ़ अश्विद्वयने दूर किया था (१ । ११७ । ७)। अश्विद्वय प्रख्यात चिकित्सक थे ही। उन्होंने इनको तारुण्य प्रदानकर इनका विवाह करा दिया था (१० । ३९ । ३)। इन्हींके पुत्र सुहस्त ऋषि थे।

यह मन्त्र-द्रष्टाओंका बाह्य विहगावलोकन है; सो भी अत्यन्त संक्षिप्त। आन्तर विहगावलोकन कठिन, जटिल और विकट है, जो किसी दूसरे लेखका विषय है। वस्तुतः ऋग्वेदीय मन्त्रोंके कहीं आध्यात्मिक, कहीं आधिदैविक और कहीं आधिभौतिक अर्थ हैं। कहीं समाधि-भाषा, कहीं परकीय भाषा और कहीं लौकिक भाषाका प्रयोग है। सायणने तीनों-का अर्थ और रहस्य बतानेका प्रयास किया है। मन्त्रोंमें उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति, लाटानुप्रास, दृष्टान्त, उदाहरण, पुनरुक्तवदाभास आदि अलंकार भी हैं। इन सब अर्थों, भाषाओं और अलंकारोंको ध्यानमें रखकर वेदार्थ करनेकी चेष्टा करनेपर ही ऋषियों और उनकी उक्तियोंका रहस्य समझमें आ सकेगा।

वैदिक ऋषियोंकी दृष्टि व्यापक और विशाल थी। उनकी माता पृथिवी थी और पिता स्वर्ग था (१ । ८९ । ४)। वे प्रत्येक अवसरपर सारे ब्रह्माण्डका स्मरण करते थे। उनके वचन उदार थे, उनके मन विराट् थे, उनके कर्म पिण्ड-ब्रह्माण्डव्यापी थे। वे अपनेमें विश्वको देखते थे और विश्वमें अपनेको देखते थे। वे मानव ही नहीं, अतिमानव, महामानव और मानवेन्द्र थे। ऐसे दिव्य पुरुषोंका सर्वत्र देवता और चेतन-लीला देखना स्वाभाविक था।

सेतिहास वेद विशेषतः अध्यात्म-विद्याका अनन्त आगार है। वह विश्वके शाश्वत नियमोंका प्रतिपादन करता है। उसके एक-एक मन्त्रमें निगूढ़ रहस्य भरा पड़ा है। उसे समझनेके लिये महान् धैर्य और सतत स्वाध्यायकी आवश्यकता है। यह मानवधर्म और संस्कृत साहित्यका जनक है। आश्चर्य है कि इधर अध्येताओंका ध्यान अत्यल्प है

महासती सावित्री

(लेखक—श्रीकृष्णगोपालजी माथुर)

[गताङ्क पृष्ठ ८८० से आगे]

सावित्रीका रथ जब उस तपोवनके पास जाकर पहुँचा, तब उस आश्रमकी एक बगलमें विस्तृत प्राङ्गणपर एक अद्भुत खेल चल रहा था। हरी-हरी दूबपर बैठा हुआ एक बालक बड़े अद्भुत खेलमें व्यस्त था। बालक बिल्कुल ही बालक नहीं था। उसकी उम्र किशोरावस्थाको पार करके यौवनावस्था-में पहुँच गयी थी। यौवनकी छटामें उसका स्वाभाविक अङ्ग-प्रत्यङ्ग बहुत कुछ उज्ज्वल हो उठा था। उसके नेत्र और मुखसे एक अपूर्व तेजस्विताका भाव प्रकट हो रहा था; तो भी बालकको बालक कहना ही उचित जान पड़ता था; क्योंकि समस्त यौवनके लक्षणोंके बीच उसका भाव नितान्त बच्चों-जैसा था। बालकके यौवनावस्थामें पदार्पण करनेपर भी उसके सारे शरीरसे एक आश्चर्यमयी कोमलता और सरलता मानो फूटकर निकल रही थी। देखते ही ज्ञात होता था कि यह कोई ऋषि-पुत्र है। बालकके मस्तकपर जटाजूट, वल्कल-वस्त्र और समस्त शरीरमें ऋषियों-जैसी पवित्र ज्योति थी। उस समय वह एक छोटे-से अश्वशावकके गले लगाकर अनेक प्रकारके आमोद-प्रमोद कर रहा था। कभी उसे घास खिलाता, कभी आदरसे उसकी पीठपर हाथ फेरता और कभी उसके साथ थोड़ा-थोड़ा दौड़ता था। देखकर मालूम होता था कि मानो वह छोटा-सा पशु भी इसमें अधिक आनन्द मान रहा है; क्योंकि वह अपने स्वामीको प्रसन्न करनेके लिये बारंबार उछल-कूदकर अनेक प्रकारके अद्भुत-अद्भुत नृत्य दिखा रहा था। इसी दशामें ऋषि-पुत्रने एकाएक वनके पास एक अपूर्व रथ आता हुआ देखा।

थोड़ी ही देरमें रथ आश्रममें आ पहुँचा। रथसे अमूल्य-अमूल्य वस्त्राभूषण लेकर नर-नारी उतर रहे हैं। यह दृश्य देख बालक क्रीड़ा करता हुआ दौड़कर उनका परिचय पानेके लिये गया। उस समय उस आश्रममें एक बृहत् शालवृक्षके नीचे बैठे हुए और भी दो स्त्री-पुरुष ध्यानमें मग्न थे। यही बालकके माता-पिता हैं। इनमें पिता अंधे हैं और दोनों ही बुढ़ापेसे बड़े दुःखित हैं। इसलिये आश्रमकी देख-भाल, माता-पिताकी सेवा-शुश्रूषा और अतिथि-सत्कार—ये सब काम सदा बालकको ही करने पड़ते हैं। इसीसे आज वह पहले ही उनकी अभ्यर्थना करनेको गया। बालकका अश्व-शावक भी पीछे-पीछे

दौड़ता गया, मानो वह भी स्वामीकी सहायता करने जा रहा हो।

वहाँ पहुँचकर बालक आगन्तुकोंका अपूर्व रथ और उनके उज्ज्वल वस्त्राभूषण देखकर अवाक् हो गया। सावित्रीकी अपूर्व देवीमूर्ति, उसकी सखियोंकी अद्भुत रत्नाभरण-भूषित दिव्य देह और मन्त्रियोंकी वेश-भूषा-मण्डित गम्भीर आकृति देखकर बालक सोचने लगा कि इनमें खास अतिथि कौन है। यह जाननेके लिये वह आगे बढ़ा। किंतु इसके पहले ही उसे देखकर मन्त्रियोंमेंसे एकने कहा—'ऋषिपुत्र! हम कई देशोंका भ्रमण करके आ रहे हैं, उद्देश्य और भी देश-भ्रमण करनेका है। आज रातभर इस स्थानमें विश्राम करना चाहते हैं। बोलो—कर सकते हैं? यह किसका आश्रम है?'

बालकने कहा—'महाशय! आपलोग आज राजर्षि द्युमत्सेनके आश्रममें उपस्थित हुए हैं। मेरे पिता द्युमत्सेन इस आश्रमके अधिपति हैं। किसी समय वे शाल्वदेशके राजा थे; पर समयका फेर है कि आज वे अठारह वर्षसे अंधे और राज्यसे च्युत होकर यहीं निवास करते हैं। अब वे तपस्वी हैं। आइये, आपलोगोंको उनके पास लिये चलता हूँ।'

बालककी बात सुनकर सभी बड़े आश्चर्यमें हुए और अकस्मात् उस निर्जन वनमें शाल्वदेशी राजाके अपूर्व शौर्य-सम्पन्न एकमात्र पुत्रको ऋषि-पुत्रके वेशमें देखकर उनके अचरजकी सीमा न रही। सावित्रीने विचारा कि ऐसा देव-तुल्य पुरुष मैंने इसके पहले कभी भी नहीं देखा था। राज-पुत्रका वह ऋषिवेश और ब्रह्मचर्यानुराग उसके नेत्रोंको बड़ा पवित्र और दुर्लभ प्रतीत हुआ। बादलोंके बीच जैसे बिजली बड़ी सुन्दर दिखायी देती है, नीलाकाशमें जैसे तारागण अति सुन्दर खिले रहते हैं, वैसे ही सावित्रीने दरिद्रवेशमें भी राजतनयको अत्यन्त उज्ज्वल देखा।

राजमन्त्रीने बालकको पुकारकर कहा—'कुमार'·······

किंतु बीचमें ही बालक बात काटकर बोल उठा—'महाशय! मुझे सत्यवान् या चित्राश्व* कहकर पुकारिये। मैं अब कुमार नहीं, केवल ऋषि-पुत्र हूँ।'

सत्यवान्के इस विनीत प्रतिवादसे सावित्री और उसके अनुचर बहुत प्रसन्न हुए। राजपुत्रका यह निरहंकार-भाव सावित्रीको बड़ा ही मनोरम और पवित्र लगा। गर्वित और अहंकारी राजपुत्रोंके वृथा आडम्बरके साथ सावित्री सत्यवान्के इस अपूर्व सीधे-सादे भावकी तुलना करके मन-ही-मन उसकी पूजा करने लगी।

राजमन्त्रीने तब उसे 'सत्यवान्'ही कहकर सम्बोधन किया और कहा—'सत्यवान्! आज हम एकाएक इस रमणीय स्थानमें राजर्षि द्युमत्सेन और उनके इकलौते पुत्र सत्यवान्को प्रत्यक्ष पाकर बड़े ही आनन्दित हुए हैं। हमें भी आप राज-अतिथि ही जानें। मैं मद्रदेशके अधिपति महाराज अश्वपतिका प्रधान मन्त्री हूँ और यह उनकी इकलौती कन्या सावित्री है। चलो, आज हम आपके परम धर्मनिष्ठ माता-पिताके चरणारविन्दोंके दर्शन करके धन्य हो गये।'

अश्वपतिकी कन्या सावित्रीको सम्मुख उपस्थित देखकर सत्यवान् भी कुछ विस्मित हुआ। सावित्री उस समय पुलकित नेत्रोंसे उसकी ओर देख रही थी। फिर सावित्रीका परिचय पाकर सत्यवान् भी उसकी तरफ टकटकी लगाकर देखने लगा। इस समय सावित्रीने उसे अपनी ओर देखता हुआ देखकर दृष्टि नीची कर ली। तब सत्यवान् भी दूसरी ओर देखने लगा।

अन्धमुनि और उनकी पत्नीने जब सुना कि अश्वपतिकी कन्या सावित्री उनके यहाँ अतिथि होकर आयी हैं, तब वे बड़े प्रसन्न हुए। थोड़ी देरके पश्चात् सावित्रीने स्वयं आकर प्रणाम किया। उस समय उनके आनन्दकी और भी सीमा न रही। वे सावित्रीको दोनों हाथ उठाकर आशीर्वाद देने लगे।

नाना प्रकारके कुशल-प्रश्न और कथोपकथनके बाद उन्होंने सत्यवान्को पुकारकर कहा—'बेटा! इनका सत्कार भलीभाँति करना, किसी प्रकारका कष्ट इन्हें न होने पाये।' आज्ञानुसार सत्यवान् प्राण-पणसे ऐसी ही चेष्टा करने लगा।

उस वनके दूसरी ओर द्युमत्सेनके सिवा और भी कई तेजस्वी ऋषि-मुनि निवास करते थे। सावित्रीके आनेकी बात सुनकर वे सब भी उसे देखने आये। ऋषि-बालिकाएँ और ऋषि-पत्नियाँ भी आकर सावित्रीके आस-पास खड़ी हो गयीं। सावित्री उनके बीच चन्दन-मण्डित पुष्पके समान शोभा पाने लगी। उन बालिकाओंके शान्त और उदार भावसे सावित्री बहुत विस्मित हुई। बालिकाओंने बहुत दिनोंकी

---

* सत्यवान्को बालपनेमें घोड़ीके बच्चेसे बड़ा प्रेम था। जहाँ मौका पाता, वहीं जमीनपर वह अश्वचित्र बनाया करता था। पिछले पृष्ठमें उसके इसी प्रेमका परिचय दिया गया है। इसीलिये उसका दूसरा नाम 'चित्राश्व' पड़ा था।

जान-पहचानके समान सावित्रीका हाथ पकड़ लिया और सब ठौर ले जाकर आश्रमके सब दृश्य दिखाये।

ऋषि-पत्नियाँ भी उसे आशीर्वाद देती हुई बहुत बातें पूछने लगीं। थोड़े समयमें ही उनके साथ सावित्रीका विशेष परिचय हो गया। उन्होंने भी उसे तपोवनके कई स्थानोंमें ले जाकर अनेक प्रकारके दृश्य दिखाये।

सावित्रीने इसके पहले और भी बहुत-से तपोवन देखे थे, परंतु ऐसा सुन्दर तपोवन मानो उसने कहीं देखा ही न था। यहाँ सावित्रीने देखा कि इस तपोवनमें दुःख नहीं है—कष्ट नहीं है—विषाद नहीं है और अमङ्गलकी छायातक नहीं है। केवल आनन्द-ही-आनन्द है और चारों ओर एक विराट् शान्तिमय भाव छाया हुआ है। कहीं मयूर-मयूरी नाच रहे हैं, कहीं माधवी लता सुगन्धित मञ्जरी-युक्त आम्रसे लिपट रही है, कहीं शुक-शारिका वृक्षोंकी शाखाओंपर बैठे हुए मधुर गान कर रहे हैं, कहीं मृगके बच्चे निर्भय होकर मुनि-बालिकाओंका अङ्ग-स्पर्श कर रहे हैं, कहीं समूह-के-समूह वन्यपुष्प खिलकर श्यामल पत्तोंकी आड़से झाँक रहे हैं। ऐसा ज्ञात होता था, मानो वे भी मुनि-कन्याओंकी भाँति अपना-अपना रूप और छटा दिखानेमें संकुचित हो रहे हैं! कहीं ऋषि-बालक एकत्र होकर नाना प्रकारके खेल कर रहे हैं, कहीं तपस्वीगण यज्ञके धुएँसे चारों दिशाओंको पवित्र करते हुए उच्च स्वरसे मन्त्रध्वनि कर रहे हैं, कहीं छोटा-सा निर्मल-जलस्रोत पर्वतसे गिरकर मधुर शब्द करता हुआ नदी-के सम्मुख बहता जा रहा है, कहींपर अद्भुत-अद्भुत जलाशय हैं, उनमें राज-हंस कमल-नालोंपर घूमते-फिरते हैं। उनके पाँवोंसे कुचले हुए सरोवरके कमल कभी-कभी भौंरोंके आलिङ्गनसे खड़े हो जाते हैं और खड़े होकर लज्जावती कामिनीके समान हँसते-हँसते जलमें छिप जाते हैं।

सावित्री यह दृश्य देखकर मोहित हो गयी; मनमें विचारने लगी कि जिनका ऐसा स्थान, ऐसा भाव और ऐसा पवित्र जीवन-यापन है, उनके समान सुखी जगत्में कौन हो सकता है। सावित्री कितनी ही बातें सोचने लगी। सोचते-सोचते संध्याकी लालीके साथ-ही-साथ आश्रमको लौट आयी।

आश्रममें आकर सावित्रीने एक और भी पवित्र दृश्य देखा। संध्याके पश्चात् खुले मैदानमें बैठकर मुनि-बालक एक साथ सांध्य-स्तोत्रका पाठ कर रहे हैं। उस दृश्यकी तुलना नहीं हो सकती! सावित्री तो यह देखकर मानो जगत्-को भूल गयी। वह स्तोत्र कितना मधुर है, वह ध्वनि कितनी प्राण-स्पर्शिनी है! मुनि-बालकोंका वह अद्भुत तेजस्वी शरीर देखकर, उनकी सुमधुर तान सुनकर सावित्री एक प्रकारकी मायामें लीन हो गयी। सत्यवान्‌की मीठी ध्वनि सुनकर उसके मनमें हुआ कि क्या मैं स्वप्न देख रही हूँ। सावित्रीने उस प्रकारका स्वर, वैसा स्वर्गीय चित्र मानो कभी भी नहीं देखा था। वह टकटकी लगाकर उनके प्रसन्न और पवित्र मुखकी ओर देखती रही। मानो एक पवित्रतामय भावने आकर उसके हृदयको मोहित कर दिया हो।

सांध्य-स्तोत्र समाप्त होनेपर सबने फल-मूल खाये। उन-मेंसे सावित्रीने भी हिस्सा पाया। आहार कर लेनेके पश्चात् सावित्री पुनः वृद्ध दम्पतिके पास बहुत-सी धर्म-विषयकी बातें सुननेको जा बैठी। अनेक प्रकारके उत्तमोत्तम उपदेश, उत्तम-से-उत्तम उपाख्यान सुनते-सुनते सावित्रीका मुख उज्ज्वल हो उठा और वह रात अधिक बीत जानेपर उस छोटी-सी कुटियाकी तृण-शय्यापर परम आनन्दसे सो गयी। वह रात मानो उसे सुख-स्वप्नके समान व्यतीत हुई। सावित्रीके साथी भी वृक्षोंके नीचे सो गये।

प्रातःकाल उठकर सावित्रीने सबको प्रणाम किया और विदा माँगी। अहा! मुनि-बालकोंकी क्या ही सच्ची मित्रता है! वे उस समय सजल नेत्रोंसे सावित्रीकी ओर देखते रहे। मुनि और उनकी पत्नियोंने भी आकर अनेक शुभाशीर्वाद देते हुए सावित्रीको विदा किया। सत्यवान् उसके रथको चलानेके लिये सारथि बनकर गया।

चलते समय सत्यवान्‌के माता-पिताने सावित्रीसे पूछा—'बेटी! अब किस देशको जाओगी?'

सावित्रीने यह बात सुनकर अपना प्रफुल्ल मुख-मण्डल संकुचित कर लिया और फिर लज्जित होकर बोली—'माँ! अब कहीं भी जानेकी इच्छा नहीं है, अब तो देशको ही लौटूँगी।' वृद्धदम्पतिने यह उत्तर सुनकर कुछ आश्चर्य माना।

वृद्धमन्त्रीने भी प्रस्थानके समय सावित्रीसे यही प्रश्न किया; क्योंकि वृद्धदम्पतिके साथ जो सावित्रीकी बात-चीत हुई थी, उसे वह नहीं जान सका था। इसीसे उसने पूछा—'बेटी! अब किस ओर चलना होगा।'

सत्यवान् उस समय रथ तैयार करके आश्रमकी ओर लौट रहा था। उसके वल्कल-वस्त्रसे घिरे हुए उन्नत शरीरकी ओर देखकर कुछ अनमने भावसे सावित्रीने उत्तर दिया—'मन्त्रिवर! अब कहीं भी जानेकी आवश्यकता नहीं है। अब तो देशको ही चलना चाहिये।'

वृद्धदम्पतिके समान मन्त्री भी इस उत्तरसे कुछ आश्चर्यान्वित हुआ। पर उसने तत्काल ही सारथिको वही आज्ञा दी। एक बार सावित्रीके मुखकी ओर और एक बार सत्यवान्के अपूर्व उन्नत शरीरकी ओर देखकर उसका मुख एकाएक प्रफुल्ल हो उठा। इसके पश्चात् उनका रथ तीव्रगतिसे चल निकला।

नारद मुनिको हरेकका काम बिगाड़नेमें ही अधिक आनन्द आता है। इसीसे ब्रह्माजीने उनको बुलाकर कहा—'नारद! सावित्री पतिको चुनकर अपने देशको लौट रही है। अब तुम्हें कुछ परिश्रम करना होगा; क्योंकि इसमें विशेष कार्य है। तुम अभी मनुष्यलोकमें जाकर जिस तरह हो सके, उसे बताओ कि सत्यवान्की उम्र बहुत थोड़ी है। आजसे ठीक एक वर्षके बाद उसकी मृत्यु हो जायगी, यह विधाताका अटल विधान है।'

मुनिजी तो यह बात चाहते ही थे। मनकी बात पाकर बड़े प्रसन्न हुए और उसी समय बगलमें एक पोथी और हाथमें मस्त वीणा लेकर राग अलापते हुए बाहर निकले और देखते-ही-देखते स्वर्गसे मृत्युलोकमें आ गये।

इधर सावित्री नगरको लौट रही है, प्रायः राजमहलके निकट आ पहुँची है। ठीक इसी समय ऋषिवर नारद अश्वपतिकी सभामें उपस्थित हुए। नारदजीको देखकर राजाको बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने आग्रहपूर्वक उनके पाँव पखारे और अनेक प्रकारकी मृदुल बातें करते-करते मुनिवरको अपने आसनपर बिठाया। कुशल-प्रश्नके पश्चात् मुनिराजने इधर-उधरकी बहुत-सी वार्ताएँ उन्हें सुनायीं।

उसी समय सभामें संवाद पहुँचा कि सावित्री लौट आयी है। साथ ही दास-दासी, सारथि, मन्त्री आदि भी लौट आये हैं। सभी सभाके द्वारपर महाराजके दर्शनोंके लिये खड़े हैं। यह बात सुनकर अश्वपति बड़े व्याकुल हुए। सोचने लगे कि हाय, सावित्री न जाने क्या कर आयी है। कन्याका सोलहवाँ वर्ष समाप्त होनेको है और सत्रहवाँ लगनेमें कुछ दिन शेष हैं। अब भी यदि सावित्री विफल-मनोरथ होकर आयी होगी तो न जाने क्या अनर्थ होगा। अश्वपति इसी बातकी चिन्तासे भयभीत हो गये; किंतु उन्होंने उसी समय कन्याको सभामें आनेकी आज्ञा दी।

सावित्री सभामें आयी। उसकी उज्ज्वल एवं स्निग्ध आभासे सारी सभा मानो आलोकित हो उठी। वनमें भ्रमण करने और ऋषि-मुनियोंके समीप रहनेसे सावित्रीके स्वाभाविक सौन्दर्यपर एक पवित्रताकी ज्योति आ गयी थी। उसी ज्योतिमें उसका देवीभाव मानो और भी उज्ज्वल दीखने लग गया था। सभी उसकी ओर टकटकी लगाकर देखते रहे। मुनिवर भी राजा अश्वपतिके गृहमें ऐसी देवी-तुल्य कन्याको देखकर बहुत देरतक अचेत-से हो गये। उनके हाथसे वीणा गिर गयी। तो भी उनकी हृदयतन्त्री उसी समय एक भक्ति-भावके सुरमें बज उठी थी।

सावित्रीने आकर पहले नारद मुनिको सादर प्रणाम किया। उसके बाद सिलसिलेसे पिता और गुरुजनोंको प्रणाम करके कुछ लज्जासे नीचा मस्तक कर खड़ी रही। नारद उसकी ओर देखकर मन-ही-मन असंख्य आशीर्वाद देने लगे। उनको मनुष्यलोकमें आना सफल लगा।

मुनिजी लड़ानेवाले होकर भी मनसे बड़े अच्छे हैं। किसीकी बुराई वे कभी नहीं चाहते। परंतु सबके कामोंमें केवल विघ्न डालकर तमाशा देखनेकी इच्छा रखते हैं। इसका भी दूसरा ही हेतु है। वे सोचते हैं कि निर्विवाद और निर्विघ्न रहकर तो सभी साधु हो सकते हैं और जो धनवान् हैं, वे भी सबको धन बाँट सकते हैं। इसमें तो पुरुषार्थ ही क्या! पर जो विपद्में पड़कर अपनी साधुता ज्यों-की-त्यों रखता है, दुःख और कष्टमें पड़कर धर्मको नहीं भूलता—प्राणोंके अन्ततक भी असत्य मार्गपर नहीं जाता और अपनी ओर न देखकर धर्म-रक्षाकी ओर देखता है, वही मनुष्य सच्चा पुरुषार्थी है। इसी अभिप्रायसे नारद सबके कामोंमें विघ्न डालकर हमेशा उनके मनुष्यत्वकी जाँच करना चाहते हैं—सुनार जैसे आगमें तपाकर सोनेकी परीक्षा करता है, ठीक वैसे ही। इससे जगत् और मनुष्य दोनोंका ही उपकार होता है। जगत् तो देख-सुनकर शिक्षा प्राप्त करता है और मानव धीरे-धीरे उन्नतिके पथपर अग्रसर होते हैं। जो इस परीक्षामें उत्तीर्ण होते हैं, वे तो जगत्में अपूर्व कीर्ति छोड़ ही जाते हैं; पर जो उत्तीर्ण नहीं हो पाते, वे भी अपनी-अपनी दुर्बलता मिटानेकी पूरी चेष्टा करते हैं। अन्ततः फल इसका भी उत्तम ही होता है। इसीलिये नारदमुनि प्रकटरूपसे लड़ानेवाले होकर भी अन्तःकरणसे हमारे लिये विशेष हितकारी मित्र हैं।

मुनिजीने सावित्रीको देखकर मनमें विचार किया कि 'यह बालिका साधारण नहीं है। इसके द्वारा जगत्का विशेष उपकार होगा। इसका आदर्श जगत्में चिरस्मरणीय बनाना चाहिये।' ऐसा विचारकर वे बोले—'महाराज! आपकी यह कन्या पूर्ण सुलक्षणा और अपूर्व गुणवती है। इतनी बड़ी

कन्याको आपने अबतक कुँवारी रखा, इसका क्या कारण है ? और अब यह कहाँसे आ रही है ?'

नारद मुनि सब कुछ जानते थे, पर जान-बूझकर भी मुंसिफ़ोंकी तरह पूछने लगे।

अश्वपतिने कहा—'प्रभो ! भाग्यकी बात भला, आपके सिवा कौन पूछे ! सावित्रीका विवाह होगा भी, मुझे तो अभी-तक इसकी आशा नहीं है; क्योंकि उसके रूप-गुण ही तो इस कार्यमें भारी बाधक बन रहे हैं। ये रूप-गुण देखकर ही कोई उससे विवाह नहीं करना चाहता। इसी कारण सावित्री मेरी आज्ञासे स्वयं अपना पति खोजनेके लिये गयी थी। अब न जाने क्या करके आयी है, यह उसीके मुखसे ज्ञात होगा।'

यह कहकर अश्वपतिनें सावित्रीसे कहा—'बेटी ! तुम क्या करके आयी हो, वह सब मुनि महाराजके सामने भलीभाँति कहो तो। हम सभी तुम्हारी बात सुननेको व्याकुल हो रहे हैं। लज्जावश कोई बात छिपाना मत।'

पिताजीके वचन सुनकर सावित्रीने अपनी कहानी कहना आरम्भ किया। लज्जासे नीचा मस्तक और संकुचित मुख करके धीरे-धीरे सारी बातें वह कहने लगी। लज्जाके साथ विनय और अधीनताके संयोगसे वह उस समय बड़ी ही सुन्दर दीख रही थी। केवल लज्जा ही अच्छी नहीं, केवल विनय ही अच्छी नहीं; किंतु दोनोंके मिश्रणसे एक बड़ा चमत्कार हो जाता है। यह बात हमारे देशके बालक-बालिकाओंको खूब अच्छी तरह समझ लेनी चाहिये। गुरुजन जिस कामको करनेकी आज्ञा दें, उसमें लज्जावश प्रमाद करना ठीक नहीं। पहली आज्ञासे कार्य नहीं किया और दूसरी आज्ञा पाकर उसका पालन किया, तो यह भी अच्छा नहीं है। लज्जा रमणीका भूषण अवश्य है, अतः लज्जा रखना ही चाहिये; किंतु साथ ही यह भी ध्यान रहे कि लज्जामें कर्तव्यकी भूल न होने पाये। देखिये, सावित्री इतनी सुकोमल, इतनी लज्जावती होकर भी पतिकी खोज करनेके निमित्त वनमें गयी और वही आज पिताकी आज्ञासे राजसभामें खड़ी होकर अपनी प्रणय-कहानी प्रकट करनेको तैयार है केवल कर्तव्यके नाते। (क्रमशः)

स्मृतिपुष्प

(लेखक—श्रीतारा पण्डित एम्० ए०)

(१)

'बेटा ! रामनाम लेते रहो। इसीसे तुम्हारा कल्याण होगा। अच्छा !'

'जी, मैं मानता हूँ।'

दूसरी बार फिर गुरुजीसे भेंट हुई। वे और शिष्योंके साथ बैठे थे। मैं भी वहीं था। मेरी ओर देखते हुए वे बोले—

'बेटा ! रामनाम चलता है न ?'

'जी ! कोशिश तो करता हूँ। परंतु बहुत कम होता है।'

'कोई बात नहीं। किंतु कोशिश न छोड़ना। समझे ?'

'अच्छा, गुरुजी !'—गुरुजीके चरणकमलपर सिर झुकाकर मैं वहाँसे चल पड़ा।

अबकी बार गुरुजी मेरे ही घर आये हुए थे।

'बेटा ! रामनाम कैसे चल रहा है ?'

मैंने साफ-साफ कह दिया—

'गुरुजी ! सच बात बताऊँ तो यह है—मुझसे रामनाम नहीं लिया जाता। दिनभर मैं काममें लगा रहता हूँ और आपने ही तो कहा है कि अपना कर्तव्यकर्म ठीकसे करना चाहिये। बताइये, मैं रामनाम कैसे ले सकता हूँ ?'

गुरुजी बोले—'बात तो सच है, अपना कर्तव्यकर्म तो नहीं छोड़ना चाहिये; परंतु तुम काम करते कैसे हो ?'

'हाथसे करता हूँ, गुरुजी !'—मैंने आश्चर्यके साथ कहा।

'ठीक। उस समय तुम्हारा मुँह क्या काम करता है ?'

'कुछ भी नहीं, गुरुजी !'

'फिर उस समय मुँहसे तो रामनाम अवश्य लिया जा सकता है।'

'जी, गुरुजी ! किंतु माला हाथमें लेकर बैठनेके लिये तो मैं समय नहीं पाता। इसीलिये मैंने वैसे कहा था।'

'माला हाथमें लेनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। हाथसे काम करते रहो और मुँहसे रामनाम लेते चलो। अच्छा, बेटा !'

'जी, गुरुजी ! कलसे मैं ऐसे ही करूँगा।'

'कलसे नहीं, बेटा ! आजसे ही, अभीसे करो। तुम जानते हो, भक्त कबीरने कहा है—

काल करै सो आज कर, आज करै सो अब।

(२)

× × ×

गुरुजी जब गाँवमें आते, तब किसी एक भक्तके घर ठहरते और शिष्यगण उनके दर्शनके लिये वहाँ प्रतिदिन जाया करते। गुरुजी एक बार आये और मुझे जब इसका पता लगा, तब मैंने सोचा कि कम-से-कम एक दिन मुझे उनके दर्शनके लिये अवश्य जाना चाहिये। मैं एक दिन हो आया। फिर गुरुजी कब गाँव छोड़कर चले गये, मुझे पता नहीं।

इसी तरह फिर गुरुजी एक बार आये। समाचार मिलते ही मैं दर्शन करने गया। लौटते समय मनमें सोचता रहा— एक भारी काम समाप्त हो गया, अच्छा हुआ। अब मजेमें घूमने-फिरने जा सकता हूँ। दूसरे दिन पता नहीं कैसे गुरुजीकी याद आ गयी। परंतु दोपहरमें आलस्यके कारण मैं सो गया। शामको जाना था मित्रोंके साथ। मनमें सोचा— 'एक बार तो दर्शन कर ही लिया है। आज नहीं जाऊँगा तो क्या हानि है। गुरुजी तो अभी दो-तीन दिन और ठहरेंगे ही। फिर कभी हो आऊँगा।' बस! मजेमें सिनेमा देखकर लौट आया। तीसरे दिन किसीके यहाँ भोजन था। मनमें सोचा—दोपहरमें भोजन है। संध्याको दर्शन करने जा सकता हूँ। घर लौटकर लेटनेका विचार कर रहा था कि एक आदमीने आकर कहा—'गुरुजीने आपको बुलाया है। वे आपकी याद कर रहे हैं।'

अब तो जाना आवश्यक था ही। मैं वैसे ही चल पड़ा। रास्तेमें दूसरे शिष्य मिले। वे भी वहीं जा रहे थे।

'आप आज प्रथम ही दर्शन करने जा रहे हैं?'—मैंने उनसे पूछा।

'जी नहीं। मैं तो प्रतिदिन जाया करता हूँ। जबतक गुरुजी गाँवमें हैं, तबतक प्रतिदिन उनके दर्शन करना आवश्यक है। आप भी प्रतिदिन जाते होंगे?'—वे बोले। मैंने कहा—'जी नहीं, मैं प्रतिदिन तो नहीं जाता।' यह बात कहते हुए मनमें मैं लज्जित-सा हो गया था।

इतनेमें घर आ गया। हम दोनो अंदर गये। गुरुचरणोंपर मस्तक टेककर दोनों अपनी-अपनी जगहपर बैठ गये।

गुरुजी मुझसे बात करने लगे—

'बेटा! अच्छे हो न?'

'जी, अच्छा हूँ।'

'अभी जानेकी जल्दी न हो तो कुछ पढ़कर सुनाओगे?'

'जी, गुरुजी।'

गुरुजीने 'नाथभागवत' खोलकर एक विशिष्ट समास मेरे सामने रखकर कहा—

'पढ़ो इसे।'

मैं पढ़ने लगा। पढ़ते-पढ़ते मुझे ऐसा लगा मानो मैंने कुछ अपराध किया है। तदनन्तर सत्सङ्गकी महान् महिमा पढ़ते-पढ़ते—

घरा आली कामधेनु। दवड़िती न पोसवे म्हणुनु।
तेंवीं श्रीरामनाम उच्चारुनु। नाडला जणुं नरदेही।

इस पंक्तितक जब मेरी आँखें पहुँचीं, तब तो मेरे नेत्रोंमें आँसू भर आये। मन-ही-मन मैंने अपनेको अधम कहा। गुरुजीके दर्शनका अलभ्य लाभ प्राप्त करनेका सुअवसर मैंने ही अपने हाथों खो दिया था। अरे! कितना नीच है मेरा मन। बाहर भटकना, खाना-पीना—सब कुछ मुझे अच्छा लग रहा था और मैं केवल गुरुजीके दर्शनको टाल रहा था।

मैंने कठिनाईसे वहाँतक पढ़ा और एकाएक उठकर मैंने गुरुजीके चरणोंपर मस्तक रख दिया। मेरा मन कह रहा था—'गुरुजी, ऐसी भूल अब कभी नहीं करूँगा। मुझे क्षमा कीजिये।'

मेरे नेत्र जलसे परिपूर्ण थे, यह उन्होंने जान लिया।

मेरी पीठपर हाथ फेरकर वे प्रेमभावसे बोले—'बेटा! बीच-बीचमें आकर मुझे कुछ पढ़कर सुनाते रहोगे तो अच्छा होगा। इससे अपना भला-बुरा समझना आसान हो जायगा। मनको भी शान्ति प्राप्त होती है। अब तुम घर जाओ। कल प्रातः हमको गाँव छोड़कर चले जाना है।'

गुरुजीको अनन्य भावसे प्रणाम करके मैंने उनकी आज्ञा ली। गुरुजीके प्रेमपूर्ण शब्द याद आ रहे थे। मनमें पूर्ण शान्ति छायी थी। कानमें कोई कह रहा था—

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम्॥

अन्नके अभावसे बचना चाहते हो तो अन्नदाताकी रक्षा करो

[धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः]

(लेखक—ब्रह्मचारी श्रीहरिदेवजी)

एक वह समय था कि सारा विश्व भारतमें देवी अन्नपूर्णाका निवास अनुभव करता था और आज यह दशा है कि भारत पेट भरनेके लिये संसारके अन्य देशोंसे अन्नकी भीख माँगता दिखायी देता है। देशके प्रत्येक राज्यमें अन्न-संकट महाविकराल रूप धारण करता जा रहा है। जन-जनमें त्राहि-त्राहिकी पुकार सुनायी दे रही है। राज्यकी ओरसे अन्नाभाव दूर करनेके लिये नित्य नये कार्य-क्रम, नयी योजनाएँ, नयी व्यवस्थाएँ अपनायी जा रही हैं, पर सफलताके स्थानपर असफलता-ही-असफलता मिल रही है। जनता हैरान है, देशके बुद्धिमान्, विचारक, तार्किक—सभी चक्करमें हैं; किसीकी समझमें नहीं आता। सब सोचते हैं—सरकारकी दूसरी पञ्चवर्षीय योजनाका समय पूर्ण हो रहा है, तीसरी योजना चालू होने जा रही है, कितने बाँध बन चुके हैं, कितनी नहरें निकल चुकी हैं, बिजलीसे कितने कूप चलने लगे हैं; फिर भी अन्न बढ़ता नहीं। सरकारने धरती भी सब तुड़वा ली है; ऊसर, जंगल, बंजर, गोचर, नदी-किनारे, बाग-बगीचे—यहाँतक कि मकानोंके आँगनमें भी ट्रैक्टर चलवा दिये गये हैं। पर अन्नमें बरकत नहीं, जनतामें चारों ओर वही 'हाय रोटी, हाय रोटी'की ही पुकार सुनायी दे रही है। 'मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की' वाली बात हो रही है। आखिर बात क्या है?

सीधे-सरल ढंगसे विचारा जाय तो बात स्पष्ट है। सब जानते हैं भारत एक कृषिप्रधान देश है, कृषिपर ही भारतीय जीवन अधिक निर्भर है। आज भले ही देशकी कुछ धरतीपर ट्रैक्टरोंसे खेती होने लगी है, पर वह प्रयत्न कहीं भी अधिक सफल होता दिखायी नहीं दिया। अधिकांश धरतीपर बैलोंसे ही सारा काम होता है। आज ही नहीं, अनादिकालसे ही बैल हमारे जीवनका सच्चा साथी बना रहा है और इसके महान् उपकारोंके कारण ही इसे 'अन्नदाता'-ऐसे श्रेष्ठ पदोंसे विभूषित किया गया है। इसके प्रति सदा आदरका भाव रखा, इसके रक्षणकी चिन्ता की, इसकी हर अवस्थामें योग्य सेवा करनेकी व्यवस्था बनायी गयी। यहाँतक कि इसीके मन्दिर बनाकर इसका पूजन तक किया। भारतरूपी महादेवके महान् शरीरको उठानेवाले वाहनके रूपमें हमने इसी नन्दीको ही देखा। इतिहास साक्षी है—जबतक इस भारतमें 'अन्नदाता' इस बैलका योग्य संरक्षण होता रहा, थोड़ी धरतीपर हल चलनेपर भी अन्नके भंडार भरपूर होते रहे, सारे विश्वका पेट भर सकनेका सामर्थ्य भी हमें प्राप्त रहा। और आज हम भूखों मरनेकी नौबतपर आ गये हैं तो इसका एक ही कारण है—'अन्नदाता' को हम रुष्ट कर चुके हैं। जिसे पशु नहीं, देवके रूपमें भारतीय महापुरुषोंने पहचाना, जिसकी प्रसन्नतामात्रमें भारतीय तत्त्ववेत्ताओंने अपने जीवनका कल्याण माना, आज वही नन्दी, नन्दीका सारा वंश हमारी दानवताका शिकार बनकर समाप्त हो रहा है। जीवनभर जिसकी तपस्याओं, सेवाओंसे हमने आनन्द लूटे, आज उसके वृद्ध होनेपर उसकी सेवाके स्थानपर मानवीय आदर्शसे गिरकर हमने उसे क्षणभर भी अपनी आँखोंके सामने खड़ा देखना सहन न किया और कसाईकी छुरीके नीचे कर दिया। आह! कितना पतन है मानवताका। और इसपर भी हम चाहते हैं सुख-शान्तिका, आनन्दका अनुभव करना। कितना मिथ्या है यह सपना! कितना पागलपन है यह हमारा! अपने ऊपर उपकार करनेवालेसे भी दगा करनेवाला संसारमें क्या कभी सुखी हो सकता है? कदापि नहीं। और ठीक यही दशा आज हमारी है। बैलको 'अन्नदाता' तो कहा ही गया, साथ ही हमारे धर्मका प्रतीक भी माना गया है, और हमारे धर्म-शास्त्र उच्च स्वरसे घोषणा कर रहे हैं—'धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।'—धर्मकी हत्या करनेवालेकी धर्म हत्या कर देता है; और जो धर्मकी रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है, पालन करता है। भगवान्से प्रार्थना है कि वह हमें उक्त मर्मको समझनेकी शक्ति दें, बुद्धि दें और हमें गोवंशके रक्षण-पालनकी प्रेरणा प्रदान कर महान् संकटोंसे बचायें, हमें धर्मका पालन करते हुए सुख-शान्तिके मार्गकी ओर अग्रसर करें।

मानवताके इस महान् प्रश्नका आज हमारे पास क्या उत्तर है? 'बैल अन्नका दाता है, फिर क्यों काटा जाता है?' ऋषियोंके इन महावाक्योंको हम कहाँतक झुठला सकते हैं! 'गोवंशकी हत्यासे प्रजा तथा राजा दोनोंका सर्वनाश हो जाता है।' 'जहाँ गोवंशका रक्त गिरता है, उस भू-भागको दुष्काल, महामारी आदि अनेक आपदाएँ घेरे रहती हैं।'



वैज्ञानिक अन्धविश्वास

(लेखक—श्रीविश्वामित्रजी वर्मा)

निसर्गमें स्वर्ग

यह लेख किसी साम्प्रदायिक संकीर्णता, राष्ट्रिय कट्टरता अथवा अपनी रूढ़िगत प्राचीन परम्पराके प्रति अन्धभक्तिसे नहीं लिखा जा रहा है, न आधुनिक वैज्ञानिक कही-मानी जानेवाली किसी प्रवृत्तिके प्रति द्वेषभावसे ही, वरं समस्त मानव-जातिके परमार्थ हित एवं भारत माताके आर्थिक और नैतिक दुःख-निवारणार्थ, निष्पक्ष एवं शुद्ध प्राकृतिक वैज्ञानिक आधारपर जीवनरक्षार्थ यह प्रयास किया जा रहा है।

वर्तमानमें भारतकी प्रजाका दुःख-दर्द टालनेके लिये जो चिकित्साकी प्रणाली चल रही है, वह विदेशियोंके द्वारा विज्ञानका नाम देकर हमारे देशमें अपने शासनके साथ पोषितकर प्रविष्ट एवं प्रचलित की हुई है। पिछले दस वर्षोंसे यद्यपि विदेशियोंका प्रभुत्व हमपर समाप्त हो गया है, फिर भी वे अपने लगाये हुए वृक्षका फल खा रहे हैं। दुःखकी बात तो यह है कि केवल भारतपर ही नहीं वरं विश्वभरमें इस वैज्ञानिक अन्धविश्वासका भ्रमजाल या इन्द्रजाल फैला है और संसारका प्रत्येक व्यक्ति कानूनसे इस मकड़जालमें फँसा हुआ है। इससे बचकर जन्म लेना, जीना और मरना भी अवैध है। और इस वैज्ञानिक भ्रान्त-परम्पराको संसारके अन्य जनतन्त्र देशोंकी तरह हमारे भारतवासी भी तन-मन-धनसे पाल-पोष रहे हैं और नित्य हानि उठाते हुए भी नहीं चेतते।

योरप अमेरिकाके कतिपय विख्यात अनुभवी डाक्टरों-द्वारा इस पद्धतिका विरोध होनेपर और किसी दवा, इंजेक्शन या चीरफाड़के विना रोगनाश एवं स्वास्थ्य-लाभ होना सिद्ध होते देख, हमारे देशके लिये इसे हानिकारक जानकर हमारे प्रथम दिव्यद्रष्टा पूज्य महात्मा गांधीने इससे मुक्ति पानेके लिये निसर्गोपचारका प्रचार आरम्भ किया। जिस प्रकार विदेशी वस्त्र तथा अन्य वस्तुओंके बहिष्कार एवं खादीप्रचारसे देशवासियोंका धन विदेशकी ओर बहनेसे रुका और लाखों गरीबोंको रोजी और रोटी मिली, निसर्गोपचारसे भी उसी प्रकार भारतकी जनताका तन और धन बचेगा। हमारे देशमें निसर्गोपचार तो परम्परासे प्रचलित है; परंतु अंग्रेज आये और हमें अन्धविश्वासी असभ्य बताकर उन्होंने हमारे पूर्वजोंकी रीति बंद की और अपनी मनमानी रीति चलायी जो हमारे देशके जलवायु, धर्म-कर्म, रहन-सहन, रीति-रिवाजके सर्वथा प्रतिकूल है और आर्थिक दृष्टिसे भी हमारे देशके लिये वह दिन-दिन अधिकाधिक असह्य एवं घातक होती जा रही है; क्योंकि विज्ञानका चोला पहिने वह वास्तवमें अन्धविश्वासयुक्त, अवैज्ञानिक, परमात्मा और प्रकृतिके अचल अबाधित नियमोंके विरुद्ध एवं प्राणियोंके नैसर्गिक दया और प्रेमका नाश करनेवाली है, इसका कारण यह है कि इसमें हिंसा समायी हुई है। पूज्य बापूजीने इसीलिये इसका त्याग करनेका आदेश दिया था।

व्यक्ति, समाज और देशको अपने कर्मानुसार सुख-दुःख मिलते हैं। कोई बाहरसे हमें सुख-दुःख देता है, कीटाणु हमें रोग देते हैं—ऐसा समझना मूर्खता है।

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
यथाकृतिर्मनुष्यस्य प्रकृतिर्जायते तथा।
निसर्गो भवति स्वर्गो ह्यनुकूलंचरेद् यदा॥

'मनुष्यकी प्रकृति (तन्दुरुस्ती या बीमारी) अपनी करनीके अनुसार होती है; यदि अनुकूल आचरण किया जाय तो कुदरतका संसार ही स्वर्ग बन जाता है।'

अपने किये हुए कर्मोंका फल भोगे विना अनेक जन्मोंमें भी छुटकारा नहीं होता—महापुरुषोंके इस वचनको न मानकर धंधाधारी अर्थ-कामी विदेशियोंकी बुद्धिको अपने माथेपर चढ़ाकर भारत सरकारका स्वास्थ्य-विभाग जनताका दुःख-दर्द मिटाने और उन्हें स्वस्थ करनेके लिये करोड़ों रुपयोंका प्रतिवर्ष खर्च बढ़ा रहा है और करोड़ों मूक निरपराध प्राणियोंकी तड़पा-तड़पाकर हत्या करके, उनके शरीरसे रक्त-मांस-मज्जा और उनके अन्य अङ्ग काट निकालकर उनमेंसे दवा नामक घृणित दुर्गन्धित पदार्थ बनाकर, उसे चमत्कारिक रोगनाशक स्वास्थ्य-वर्धक रसायन कहकर, मानवके नीरोग अङ्गोंमें डाल रहा है—

इस मोहमयी धारणासे कि इससे रोग नहीं होगा, रोग मिट जायगा ।

अन्ध-परम्परा

इस वैज्ञानिक अन्धबुद्धिकी राक्षसी प्रवृत्तिको देखकर बापूजीने अपने उद्गार निकाले थे—'मैं जो विचार आपके सामने रखता हूँ, वे मेरे स्वयंके हैं; परंतु मैंने ही ये विचार बनाये नहीं हैं । पश्चिमके सुधारकोंने तो मेरी अपेक्षा कठोर शब्दोंमें लिखा है और * वकील-डाक्टरोंको खूब फटकारा है ।

'जैसा और जितना तुम्हें डॉक्टरोंसे मोह है, मुझे भी था । एक समय ऐसा था कि मैं खुद डॉक्टर बननेका इरादा रखता था और डॉक्टर बनकर देशकी सेवाकी धारणा थी; अब वह मोह चला गया । हम तो वैद्य-डॉक्टरके धंधेको अच्छा समझते ही नहीं । डॉक्टरोंने हमें घबरा दिया है । डॉक्टरोंकी अपेक्षा तो नीम-हकीम अच्छे—ऐसा कहनेको मेरा जी चाहता है । रोग क्यों और कैसे होता है ? अपनी भूलसे । मैं बहुत-सा खा लूँ, मुझे अजीर्ण हो जाय, मैं डॉक्टरके पास जाऊँ, डॉक्टर मुझे हाजमेकी गोली दें, मैं अच्छा हो जाऊँ, फिर खूब खाकर फिर गोली खाऊँ, ऐसी बात बन चली । यदि मैं गोली न खाऊँ तो अजीर्णका दुःख भोगूँ, फिर बेहद न खाऊँ । बीचमें जो डॉक्टर आया, उसने गोली देकर मुझे बेहद खानेमें मदद की (असंयमी बनाया)—जिससे मेरे शरीरको आराम मिला, परंतु मन निर्बल हो गया । ऐसा चलते आखिर मेरी ऐसी दशा हो गयी कि मन और जिह्वापर कुछ भी नियन्त्रण न रहा । मैंने विषय किया । रोगी हुआ । डॉक्टरने दवा दी और मैं ठीक हो गया । क्या मैं पुनः विषय नहीं करूँगा ? यदि डॉक्टर बीचमें न आता तो कुदरत अपना काम करती, दुःख अनुभवकर शिक्षा पाकर मेरा मन दृढ़ होता और मैं निर्विषयी होकर सुखी होता ।

'अस्पताल पापकी जड़ हैं, शरीरकी खोटी सेवाके लिये प्रतिवर्ष लाखों जीवोंकी हत्या करते हैं । विज्ञानके नामपर ऐसा करना किसी भी धर्ममें कबूल नहीं है । डॉक्टर हमें धर्म-भ्रष्ट करते हैं, उनकी बहुत-सी ऊँची मानी जानेवाली दवाओंमें चर्बी या शराब होती है; इन दोनोंमें एक भी वस्तु हिंदू या मुसल्मानके लिये खपनेवाली नहीं है । सभ्यता और वैज्ञानिकताकी इस चमकमें हमलोगोंकी आँखें फिर गयी हैं और अन्य सब पुरानी बातोंको वहम समझकर हम मनमानी करें तो दूसरी बात है । इसका परिणाम यह होता है कि हम लोग निर्बल और नपुंसक बनते जा रहे हैं । अंग्रेजी या यूरोपियन डॉक्टरी विद्या सीखकर अपनी अधोगति करना है । हम डॉक्टर क्यों बनते हैं ? इज्जतदार ढंगसे पैसा कमानेका धंधा करना, परोपकार नहीं । इस धंधेमें परोपकार-की भावना नहीं है । मैं तो कहता हूँ इससे हानि है । डॉक्टर तो आडम्बर—ढोंग करके लोगोंसे बड़ी फीसकी रकम लेते हैं, एक आनेकी दवाका रुपया लेते हैं । अच्छे होनेकी आशा और विश्वासमें लोग ठगाये जाते हैं । भलाईका ढोल बजानेवाले इन ठगोंसे तो नीम-हकीम माने जानेवाले खुले ठग अच्छे हैं ।'

महात्मा गांधी हमारे देशके नेता थे—इस दृष्टिसे उनकी बात चाहे सर्वमान्य हो । परंतु वे डॉक्टर या वैज्ञानिक नहीं थे, डॉक्टरी उन्होंने नहीं पढ़ी-सीखी थी; अतएव वैज्ञानिकोंको उनकी बातोंपर आपत्ति हो सकती है । परंतु उन्होंने स्वयं कुछ न कहकर, ईमानदार वैज्ञानिकोंकी बात केवल दुहरायी है । किसीके घरका अन्तरङ्ग भेद घरवालोंसे ही मिलता है; अतएव आइये, देखें, अनुभवी सुधारक डॉक्टरोंने क्या कहा है ! न्यू ज़ीलैंडके प्रथम रेडियो-डॉक्टर उलरिक विलियम्सने लिखा है—* मेडिकल साइन्स और कुछ नहीं, केवल नयी

* वकील, वेश्या और वैद्य—तीनों प्रायः एक ही श्रेणीमें कहे गये हैं; परंतु इनमें वेश्या उत्तम मानी गयी है । क्योंकि वह अपने ग्राहकोंको तन-मन देकर प्रसन्नकर धन कमाती है; परंतु वकील-डॉक्टर तो जनताको सत्य और प्रकृतिके विरुद्ध गुमराह करते हैं । बेईमानी और रोग जितने इनसे बढ़े हैं, कानून और दवाकी आड़में, वेश्यावृत्ति उतनी नहीं बढ़ी; क्योंकि वेश्यावृत्ति सामाजिक तिरस्कार-बहिष्कारके फलस्वरूप लाचारीसे उत्पन्न—एक कलाको लेकर निर्वाह करती है, जब कि वकालत और डॉक्टरी—कानूनी आवश्यकताएँ हैं ।

* Ulric Williams, the original Radio doctor of New Zealand, sums up—"Medical Science is nothing but an arduous way of converting acute illness into chronic disease, yet victims climb over each other for the privilege of being exterminated by what one hospital matron described as the "senseless butchery" that goes on in our. hospital theatres. Radium, X-ray, Surgery are nothing but clumsy, illogical and painful techniques for shortening life and increasing misery.

बीमारीको पुरानी बीमारी बनानेका धंधा है; फिर भी बीमार एक शिकारकी तरह इस प्रकार लाचार होकर ऑपरेशन थियेटरमें एक-एक करके बूचड़खानेकी तरह हलाल होने आते हैं। रेडियम, एक्स-रे और चीर-फाड़ केवल एक गंदी, नासमझ और दर्दनाक क्रूर क्रियाके अतिरिक्त और कुछ नहीं; इनसे तो जीवनके दिन कम होते और दुःख बढ़ते हैं।

डॉ० जे० एच्० टिल्डनने २५ वर्षतक डॉक्टरी और सर्जन-सम्बन्धी कुशलताके पश्चात् उसे छोड़कर प्राकृतिक उपचारको अपनाया और ९० वर्षकी उम्रतक करते रहे। उन्होंने लिखा है—* 'आजकल जो मेडिकल साइन्सके नामसे विख्यात धंधा चल रहा है, वह शुरूसे अन्ततक भ्रान्त है। ईसाई भक्त किसी रोगीके लिये भगवान्से प्रार्थना करता है, डॉक्टर भी रोगीको दवा देता है; परंतु ये दोनों उस रोगीको रोगोत्पादक-वर्धक व्यसनों आदिसे जबतक नहीं रोकते, तबतक ये दोनों प्रकारके चिकित्सक अज्ञानी और नास्तिक हैं। जबतक रोगका बीज विद्यमान है, तबतक तंदुरुस्ती नहीं आ सकती—यह मोटा बात कोई भी साधारण व्यक्ति समझ सकता है।'

सफेद झूठ

अपनी ही आँखों देखकर हम अपने देशकी दुर्दशापर विचार नहीं करते कि पचास वर्ष पहले जो आँख, दाँतके रोग बूढ़ोंको हुआ करते थे; लकवा, हृदय-रोग, कैंसर, मधुमेह इनेगिने लोगोंको बुढ़ापेमें हुआ करते थे। वे अब सद्योजात बच्चोंमें भी पाये जाने लगे हैं और जन्मते ही उन्हें नाकमें 'आक्सीजन' की ट्यूब दी जाती है तथा जीवनभरके लिये वे दवा, इंजेक्शन, नकली दाँत और चश्मेके गुलाम बचपनसे ही बन रहे हैं। वैज्ञानिक भोजन, रहन-सहन, सभ्यता और इलाजकी गुलामीसे दाँत खोये, आँखें खोयीं, रोग खरीदा, अपंग बने। हम इंजेक्शन और ऑपरेशनसे मौत टाल रहे हैं। बिस्तरपर हिल-डुल न सकने लायक हम जिंदा हैं। विज्ञानकी करामातको हम धन्यवाद देते हैं कि अपना दुःख-दर्द बोल सकने लायक भी हम न रह गये; और मौत चाहने, बुलाने, माँगनेपर भी नहीं मिल सकती कि हमें दुःखोंसे मुक्ति मिल जाय। हम अपने सगे-सम्बन्धी या डॉक्टरसे अपनी 'हत्या' के लिये प्रार्थना भी नहीं कर सकते; करें भी तो कौन हमारी हत्या करके हमें दुःखसे मुक्त करनेका उपकार करनेमें कानूनकी फाँसी अपने गले लगायेगा? यही कारण है कि बहुत वर्षोंतक दवाइयां खाकर भी रोगी बने रहकर कतिपय पुरानो बीमारियों, खासकर पाचन-सम्बन्धी रोगों तथा तज्जन्य मानसिक या चर्मरोगादिसे परेशान होकर कितने ही लाचार लोग रेल-मोटरके आगे सड़कपर कूदकर, विष खाकर या अन्य उपायोंसे आत्म-हत्या कर लेते हैं, स्वयं मुक्तिका यह अन्तिम साधन कर लेते हैं—न रहेगा शरीर न रहेगा रोग। फिर भी अखबारोंमें दावा किया जाता है, चमत्कारी संजीवनी दवाओंके शोधका डंका बजाया जाता है, असंयम, पाप और आयु बढ़ानेके नये नुस्खे (यथा—संतति-नियमन) बनाये जाते हैं और कानून तथा विज्ञानके द्वारा उनका प्रचार किया जाता है कि रोगपर विजय मिल गयी, संसारमें तंदुरुस्ती और आयु बढ़ रही है। किंतु यह सब सफेद झूठ है।

हमारे गौराङ्ग अधिपति हमें कायदेसे स्वतन्त्रता सौंपकर वसीयतमें विज्ञानके नामपर विनाशके नुस्खे हमें और हमारी भविष्यकी पीढ़ियोंको अंधा, अपंग, नपुंसक बनानेके लिये छोड़ गये हैं। केवल भारतका ही मैं पक्षपात क्यों करूँ, सारी दुनियाके देशोंमें यह वैज्ञानिक विनाशक अंध-भक्ति परम्परा बनी उन्नति कर रही है। इनके चमत्कारी यन्त्रोंसे रोगियोंका रोग निदान करनेमें महीनों लग जाते हैं और निदान होनेपर अन्तमें जब चीर-फाड़ होती है, तब उसके द्वारा इहलोकसे मुक्ति ही मिल जाती है। आजकल अन्त्रपुच्छ (appendix) के ऑपरेशनका खूब प्रचार है और सर्जन लोग ऐसे ऑपरेशन करके अपने गलमें मुण्डमालाओंकी संख्या बढ़ाकर कुशल विख्यात हो रहे हैं। वास्तवमें इनमें बहुत-से ऑपरेशन अंदाजमात्रसे होते हैं। एक गरीब ब्राह्मण कृषकको कब्ज रहता था। उसने उग्र जुलाब लिया, जिससे मरोड़सहित उसे कई दस्त लगे; कमजोरी बढ़ी तो दस्त रोकनेके लिये शामक 'कपूर' की दवा ली। अब उसकी भूख जाती रही, मल भी

* Dr. G H. Tilden changed over after twenty-five years of routine medical and surgical work and continued to expound the "leave alone" theory, until he died in harness at the age of 90. This is how he sums up his lifelong experiences—"I want to go on record as one saying that so-called medical science as practised today is a fallacy from beginning to end. The Christian prays to God to cure without the sick man being troubled to leave off his disease-provoking habits; the doctor gives a drug to cure the patient in spite of his inebriating habits. Both practise atheism without knowing it.

नहीं निकला। सर्जनने अंदाजी निदानसे उसके अपेण्डिक्स-का ऑपरेशन कर डाला, जिससे उसका दर्द सौगुना बढ़ गया। वास्तवमें उसे छोटी आँतमें एक स्थानपर कैंसर था, जिससे आँतका वह स्थान सूखता-सिकुड़ता जा रहा था और सारी पाचन-प्रणाली मुर्दार हो रही थी; परंतु सर्जनको ये बातें नहीं सूझीं।

सूक्ष्म-विज्ञान

पंजाबके अम्बाला जिलेमें कभी ऐसे आम आपने खाये हैं जिनमें सौंफ या अजवायनकी सुगंध मिली हो ? आमकी गुठली-को सौंफ या अजवायनके पानीमें या शुद्ध दूधमें भावना देकर बो दिया जाय तो आमके प्रत्येक फलमें सौंफ, दूध या अजवायनकी खुशबू आपको पच्चीस वर्षतक या पेड़के सारे जीवनतक उसके फलोंमें मिलेगी, यद्यपि पेड़की जड़में दूध, अजवायन या सौंफका लेशमात्र भी वैज्ञानिक खोजसे न मिले। इस तथ्यके आधारपर यह निश्चय है कि आजकल सारे देशमें नलोंद्वारा प्राप्त होनेवाले म्युनिसिपलिटीकी वैज्ञानिक अन्धभक्ति एवं अज्ञानके फलस्वरूप फ्लोराइड-घुले पानोमें, भोजनकी बनावटी वस्तुओंमें घुले-मिले डी० डी० टी० तथा व्यसनकी वस्तुओंमें घुली-मिली 'कोलतार'के सुगन्धित विषों और रासायनिक दवाइयोंका असर मानवकी वंशानुगत पीढ़ियोंमें अनन्तकालके लिये कितना व्यापक रहेगा, इसकी कल्पना वैज्ञानिकोंकी सूझमें नहीं आती। भौतिक विज्ञान केवल स्थूल और साक्षात्को देखता है। किंतु प्राकृतिक विज्ञान इतना सूक्ष्म है कि वह परोक्ष, अनन्त और असीमके गर्भमें है; उसके प्रभावका नाश नहीं हो जाता। साधारण-सी बात लीजिये। एक बोतलमें स्याही आधा भरकर ऊपरसे दूध डालकर भर दें; फिर चाहें कि उसमेंसे दूध पी लें और स्याहीसे लेखनका काम लें तो क्या ऐसा मिश्रण पीने या लिखनेके काम आयेगा ? इसमेंसे वर्षोंतक किसी भी प्रकारकी मिलावट बार-बार करते रहनेपर क्या दूध और स्याही अलग होंगे ?

नित्य आविष्कारमें घोषित होनेवाली चमत्कारी दवाइयोंके प्रयोग-अनुभव होनेपर जो घातक परिणाम संसारभरमें रोगियोंपर हुए हैं, उनके विषयमें प्रख्यात डॉक्टरोंने गम्भीर चेतावनी दी है, जिन सबका स्थानाभावसे यहाँ विस्तार न करके हम केवल उन अनुभवी डॉक्टरोंके कुछ वचन यहाँ देंगे। ये सब यूरोप-अमेरिकाके सामयिक डॉक्टरी संस्थाओंके अखबारोंमें कई बार प्रकाशित हो चुके हैं—'स्ट्रेप्टोमाइसिनके प्रयोगसे मनुष्य सदाके लिये बहरा और मन्द-दृष्टि हो सकता है; पेनिसिलिनके समान ही इसके प्रयोगसे शरीरके चर्मपर भयंकर प्रतिक्रिया होती है और क्लोरम्फेनिकोलसे कभी कभी अस्थिद्रवमें, जहाँ लाल रक्तकण बनते हैं, गम्भीर विषमयता उत्पन्न हो जाती है, जिससे घातक रक्ताल्पता हो जाती है।'

क्लोरटेट्रासाइक्लीन और आक्सीटेट्रासाइक्लीन इतने तीव्र विष हैं कि इनके प्रयोगसे पाचन-प्रणालाके सहायक कीटाणु भी नष्ट हो जाते हैं। योरप-अमेरिकाके वैज्ञानिक अखबारोंके जानकार सम्पादक लोग इन बातोंको स्पष्ट निष्पक्ष-भावसे प्रकाशित कर देते हैं, जब कि हमारे जनतन्त्र देशके भारतीयभाषी लोकप्रिय अखबारोंके अनजान मालिक और सम्पादक उनके विषयमें प्रचार-लेख और विज्ञापन छापते हैं—यह कितने अंधेरका अज्ञान और स्वार्थ है !

अधूरा संविधान

हमारे देशके संविधानमें चार प्रकारकी स्वतन्त्रतामेंसे दूसरे नंबरकी स्वतन्त्रता 'हमारे राज्यमें सबको सोचने, बोलने, लिखने, धर्म और पूजा-पाठकी पूरी स्वतन्त्रता होगी' हमारी दृष्टिसे बिल्कुल अधूरे संविधानका द्योतक है। देशकी स्वस्थ जनता ही देशकी मौलिक सम्पत्ति है। जनता रोगी, पङ्गु, अन्ध, नपुंसक हो तो किसी भी प्रकारकी स्वतन्त्रताका संविधान बनाना और ऐसी वैज्ञानिक उन्नति करना केवल पाखण्ड और तमाशा है। संविधानकी इस कलममें यों सुधार होना आवश्यक है कि 'प्रत्येक व्यक्तिको अपने शरीरको, तन-मनको स्वस्थ रखना स्वयंकी जिम्मेदारी है। इसमें सरकार या कानूनकी कोई जबरदस्ती ठेकेदारी कायम करना, जबरदस्ती टीका-इंजेक्शन लगाना, दवाइयाँ पिलाना अन्याय है।' अज्ञानजन्य यह वैज्ञानिक जबरदस्त ठेंगा जनताकी भविष्य पीढ़ियोंके लिये कितना घातक होगा, यह आज नहीं जाना जा सकता। हमारी सरकार और जनता जबतक रोगनाश और स्वास्थ्य-साधनके लिये विनाशक विज्ञानकी विषाक्त दवाओंके गुलाम रहेंगे, तबतक स्वतन्त्रताका संविधान अधूरा है।

* डॉ० डब्ल्यू० एच्० व्हाइट, एम० आर० सी० एस०, एल्० आर० सी० पी० ने लिखा है—रोगपर हम स्वार्थवृत्तिसे

* Disease becomes a vested interest, and consciously or unconsciously the doctors foster it. As such it is a common observation that doctors produce disease. Moreover the whole system and philosophy of our dealing with the disease is mistaken.

धंधा करते हैं। ऐसा देखा गया है कि डॉक्टर ही रोग उत्पन्न करते हैं। अधिक क्या करें—रोगपर प्रयोगके विषयमें हमारा सारा सिद्धान्त और कार्यप्रणाली भ्रान्त है।

व्याख्या

प्रचलित डॉक्टरी चिकित्सा-विज्ञान ऐलोपैथी है, जिसे आर्थोडॉक्स मेडिकल प्रेक्टिस कहा जाता है। देखिये इन शब्दोंका अर्थ क्या है!

Allopathy—The term really means curing of diseased action by inducing a different kind of action in the body.—American Illustrated Medical Dictionary. Websters International Dictionary of the English Language में इसकी व्याख्या यों दी है—

Allopathy—The system of medical practice which aims to combat disease by the use of remedies which produce effects different from those produced by special disease treated.

Oxford Dictionary में लिखा है—Treatment of disease by inducing a different tendency.

अर्थात् बीमारीका इलाज करनेमें उससे भिन्न लक्षण उत्पन्न कर देना। जिस घरमें चोर घुसा हो, उसे घरमेंसे निकालनेका प्रयत्न तो दूर, वरं उसमें एक जबरदस्त डाकूको लाकर घुसा देना—यही इस इलाजका विज्ञान है। ये दोनों मौसेरे भाई कितना भला करेंगे—यह वैज्ञानिकोंकी सूझमें अभी-तक नहीं आया। Orthodox का अर्थ है—साधारण विश्वास-के अनुसार, माने हुए विचार धारण करना—According to general belief; holding accepted views. इसीको 'मेडिकल साइंस' कहा जाता है।

विज्ञान और विश्वास—दो अलग-अलग बातें हैं, परस्पर विरोधी हैं; विज्ञानमें विश्वासकी पैठ नहीं। विज्ञानका अर्थ होता है—विशेषरूपसे जानकर सिद्ध किया हुआ ज्ञान। जिस बात, क्रिया या वस्तुको हम तर्क या क्रियाद्वारा सिद्ध नहीं कर सकते परंतु श्रद्धाभावसे अनुभव कर सकते हैं, वह विज्ञान नहीं, विश्वासकी भूमिका है। इस वैज्ञानिक दृष्टिसे 'ईश्वर' विश्वास या अन्धविश्वासकी वस्तु है। फिर भी चिकित्सा-विज्ञानको जब 'आर्थोडॉक्स मेडिकल प्रैक्टिस' कहते हैं तो उसका अर्थ होता है कट्टर अन्धविश्वासयुक्त। इसमें वैज्ञानिकता कहाँ रही? यह तो विश्वासकी चीज है। और यदि इसमें लेशमात्र विज्ञान होता तो संसारका दुःख दूर होनेके बदले बढ़ता क्यों? इनकी परिभाषा एवं क्रियाप्रणाली-से स्वयं स्पष्ट होता है कि ये परम्परानुगत विश्वासके अनुसार इलाज करते हैं और वह इलाज भी रोग तथा रोगके कारण-को दूर करनेका नहीं, वरं रोगकी दशामें रोगीके शरीरमें उग्र विष प्रविष्ट करके दूसरे लक्षण उत्पन्न कर देना है। तब इसमें वैज्ञानिकता कहाँ रही?

उद्गार

डॉ॰ मेलविल कीथ एम्॰ डी॰ ने लिखा है—डॉक्टरका अर्थ है आचार्य, शिक्षक। परंतु ये हमें कोई भलाईकी बात न बताकर केवल जहर देकर हमारे शरीरको बिगाड़ते हैं। टीका बच्चोंके जीवनके लिये अभिशाप है। हम तो घोषणा करते हैं कि डॉक्टरी धंधा मूर्ख, दुष्ट और अज्ञानियोंका है।

प्रोफेसर ईवान्स, एफ्॰ आर॰ सी॰ एस॰ लन्दनने लिखा है—हमारे जमानेका यह डॉक्टरी धंधा सबसे अधिक अनिश्चित और असंतोषप्रद है। इसमें कोई समझदारीका सिद्धान्त नहीं है कि कोई उसपर विश्वास कर सके। फ्रांसके शरीर-विज्ञानी डॉ॰ मेजांडीने लिखा है—दवा धोखेकी चीज है। मैं जानता हूँ इसे विज्ञान कहते हैं, परंतु इसमें विज्ञान-जैसी कोई बात नहीं है। डॉक्टरी तो गोरख-धंधा है। हमलोग नहीं जानते कि दवा क्या वस्तु है। दुनियामें कौन जानता है कि रोग और दवा क्या चीज है?'

डॉक्टर विलियम हावर्ड एम॰ डी॰ ने लिखा है—'जब डॉक्टरलोग एक-मत न हों तो इसका यही अर्थ हुआ कि रोगके विषयमें सभी भ्रान्त हैं। अंधोंके पीछे अंधे चल रहे हैं। साधारण सिरदर्द दूर करना भी डॉक्टरी धंधेके बूतेके बाहर है।'

फील्डिंगने लिखा है—'हरेक डॉक्टर स्वयं एक-न-एक अपनी बीमारीमें फँसा रहता है। फिर ये दूसरोंका क्या इलाज करेंगे?'

इंगलैंडके प्रसिद्ध डॉक्टर जॉन मेसन गुडने लिखा है—'युद्ध, अकाल और महामारीसे जितने लोग मरे हैं, उसकी अपेक्षा दवाओं और डॉक्टरोंसे बहुत अधिक लोग मरे हैं। और स्वयं असंयमसे जितने लोग रोगी होते हैं, उसकी अपेक्षा दवाओं और डॉक्टरोंसे अधिक लोग रोगी होते हैं।'

केवल भारतमें ही नहीं, सारी दुनियामें जहाँ-जहाँ एलोपैथीका जंजाल सरकारने फैलाया है, तमाम रोग बढ़ रहे हैं, और इस अन्धवैज्ञानिक पद्धति (आर्थोडॉक्स मेडिकल साइंस) की व्यर्थता एवं खोखलेपनका बहुत वर्षोंतक अनुभव करके वयोवृद्ध डॉक्टरोंने दवा और चीर-फाड़की निर्दयी प्रथाका भंडाफोड़ करते हुए अनेकों पुस्तकें लिखी हैं। अमेरिकाके एक आहारविज्ञानी डब्ल्यू हिक्सने 'रिवोल्ट अगेन्स्ट डॉक्टर्स' (डॉक्टरोंके विरोधमें) और डॉ० नार्मन बार्नबी एम० डी० ने 'डॉक्टरी अंधेर और पाप' नामकी मोटी पुस्तकमें बहुत-सी रहस्यमय बातें विस्तारपूर्वक साक्षीरूपमें लिखी हैं।

इंगलैंडके विख्यात डॉक्टर सर आरबुथनाट लेनने प्रचलित डॉक्टरी विज्ञान और धंधेके खोखलेपनका विरोध किया, तब डॉक्टरी संगठनकी स्वार्थनीतिको यह ईमानदारीके उद्गार सहन नहीं हुए और उन्होंने सर आरबुथनाटको डॉक्टरी रजिस्टरसे 'जात बाहर' कर दिया। ऐसे बहुत-से हिम्मत करनेवाले स्पष्ट हृदयवादी डॉक्टरोंने दवाका विषाक्त और चीर-फाड़का निर्दयी धंधा त्यागकर प्राकृतिक पद्धतिसे इलाज करना आरम्भ किया और सफल हुए।

(शेष अगले अङ्कमें)

श्रीराधाका त्यागमय एकाङ्गी निर्मल भाव

पवित्रतम प्रेमसुधामयी श्रीराधाने प्रियतम प्रेमार्णव श्रीश्यामसुन्दरके दर्शन करके सर्वसमर्पण कर दिया। अब वे आठों पहर उन्हींके प्रेम-रस-सुधा-समुद्रमें निमग्न रहने लगीं। श्यामसुन्दर मिलें-न-मिलें—इसकी तनिक भी परवा न करके वे रात-दिन अकेलेमें बैठी मन-ही-मन किसी विचित्र दिव्य भावराज्यमें विचरण किया करतीं। न किसीसे कुछ कहतीं, न कुछ चाहतीं, न कहीं जाती-आतीं। एक दिन एक अत्यन्त प्यारी सखीने आकर बहुत ही स्नेहसे इस पर-अज्ञात विलक्षण दशाका कारण पूछा तथा यह जानना चाहा कि तुम सबसे विरक्त होकर दिन-रात क्या करती हो ? यह सुनकर श्रीराधाके नेत्रोंसे अश्रुबिन्दु गिरने लगे और वे बोलीं—

'प्रिय सखी ! हृदयकी अति गोपनीय यह मेरी महामूल्यमयी अत्यन्त प्रिय वस्तु, जिसका मूल्य मैं भी नहीं जानती, किसीको दिखलाने, बतलाने या समझानेकी वस्तु नहीं है; पर तेरे सामने सदा मेरा हृदय खुला रहा है। तू मेरी अत्यन्त अन्तरङ्गा, मेरे ही सुखके लिये सर्वस्वत्यागिनी परम विरागमयी मेरे रागकी मूर्तिमान् प्रतिमा है; इससे तुझे अपनी स्थिति, अपनी इच्छा, अभिलाषाका किंचित् दिग्दर्शन कराती हूँ। सुन—

'प्रिय सखी ! मेरे प्रभुके श्रीचरणोंमें मैं और जो कुछ भी मेरा था, सब समर्पित हो गया। मैंने किया नहीं, हो गया। जगत्में पता नहीं, किस कालसे जो मेरा डेरा लगा था, वह सारा डेरा सदाके लिये उठ गया। मेरी सारी ममता सभी प्राणी-पदार्थ-परिस्थितियोंसे हट गयी, अब तो मेरी सम्पूर्ण ममताका सम्बन्ध केवल एक प्रियतम प्रभुसे ही रह गया। जगत्में जहाँ कहीं भी, जितना भी, जो भी मेरा प्रेम, विश्वास और आत्मीयताका सम्बन्ध था, सब मिट गया। सब ओरसे मेरे सारे बन्धन खुल गये। अब तो मैं केवल उन्हींके श्रीचरणोंमें बँध गयी। उन्हींमें सारा प्रेम केन्द्रित हो गया। उन्हींका भाव रह गया। यह सारा संसार भी उन्हींमें विलीन हो गया। मेरे लिये उनके सिवा किसी प्राणी-पदार्थ-परिस्थितिकी सत्ता ही शेष नहीं रह गयी, जिससे मेरा कोई व्यवहार होता। पर सखी ! मैं नहीं चाहती मेरी इस स्थितिका किसीको कुछ भी पता लगे। और तो क्या, मेरी यह स्थिति मेरे प्राणप्रियतम प्रभुसे भी सदा अज्ञात ही रहे। प्यारी सखी ! मैं सुन्दर सरस सुगन्धित सुकोमल सुमनसे (सुन्दर मनसे) सदा उनकी पूजा करती रहती हूँ, पर बहुत ही छिपाकर

करती हूँ; मैं सदा इसी डरसे डरती रहती हूँ, कहीं मेरी इस पूजाका प्राणनाथको पता न चल जाय। मैं केवल यही चाहती हूँ कि मेरी पवित्र पूजा अनन्त कालतक सुरक्षित चलती रहे। मैं कहीं भी रहूँ, कैसे भी रहूँ, पर इस पूजाका कभी अन्त न हो। और मेरी यह पूजा किसी दूसरेको—प्राणप्रियतमको भी आनन्द देनेके उद्देश्यसे न हो, इस मेरी पूजासे सदा सर्वदा मैं ही आनन्द-लाभ करती रहूँ। इस पूजामें ही मेरी रुचि सदा बढ़ती रहे, इसीसे नित्य ही परमानन्दकी प्राप्ति होती रहे। यह पूजा सदा बढ़ती रहे और यह बढ़ती हुई पूजा ही इस पूजाका एकमात्र पवित्र फल हो। इस पूजामें मैं नित्य-निरन्तर प्रियतमके अतिशय मनभावन पावन रूप-सौन्दर्यको देखती रहूँ। पर कभी भी वे प्रियतम मुझको और मेरी पूजाको न देख पायें। वे यदि देख पायेंगे तो उसी समय मेरा सारा मजा किरकिरा हो जायगा। फिर मेरा यह एकाङ्गी निर्मल भाव नहीं रह सकेगा। फिर तो प्रियतमसे नये-नये सुख प्राप्त करनेके लिये मनमें नये-नये चाव उत्पन्न होने लगेंगे।'

यों कहकर राधा चुप हो गयी, निर्निमेष नेत्रोंसे मन-ही-मन प्रियतमके रूप-सौन्दर्यको देखने लगी।

हुआ समर्पण प्रभु-चरणोंमें जो कुछ था सब, मैं, मेरा।
अग-जगसे उठ गया सदाको चिरसंचित सारा डेरा॥
मेरी सारी ममताका अब रहा सिर्फ प्रभुसे सम्बन्ध।
प्रीति, प्रतीति, सगाई सबही मिटी, खुल गये सारे बन्ध॥
प्रेम उन्हींमें, भाव उन्हींका, उनमेंही सारा संसार।
उनके सिवा, शेष कोई भी बचा न, जिससे हो व्यवहार॥
नहीं चाहती जाने कोई, मेरी इस स्थितिकी कुछ बात।
मेरे प्राणप्रियतम प्रभुसे भी यह सदा रहे अज्ञात॥
सुन्दर सुमन सरस सुरभित मृदुसे मैं नित अर्चन करती।
अति गोपन, वे जान न जायें कभी, इसी डरसे डरती॥
मेरी यह शुचि अर्चा चलती रहे सुरक्षित काल अनन्त।
रहूँ कहीं भी, कैसे भी, पर इसका कभी न आये अन्त॥
इस मेरी पूजासे पाती रहूँ नित्य मैं ही आनन्द।
बढ़े निरन्तर रुचि अर्चामें, बढ़े नित्य ही परमानन्द॥
बढ़ती अर्चा ही अर्चाका फल हो एकमात्र पावन।
नित्य निरखती रहूँ रूप मैं, उनका अतिशय मनभावन॥
वे न देख पायें पर मुझको, मेरी पूजाको न कभी।
देख पायँगे वे यदि, होगा मजा सभी किरकिरा तभी॥
रह नहिं पायेगा फिर मेरा यह एकाङ्गी निर्मल भाव।
फिर तो नये नये उपजेंगे 'प्रिय' से सुख पानेके चाव॥

भगवान् ही मेरी शक्ति, शान्ति एवं विवेकके मूल स्रोत हैं

मेरे भगवान् मेरे हृदयमें नित्य विराजमान हैं और वे ही मेरी शक्ति, शान्ति एवं विवेकके मूलस्रो हैं। आज मैं अपने हृदयमें स्थित भगवान्की ओर उन्मुख होता हूँ। भगवान्की शक्तिसे अब मेरा प्रत्ये कार्य बड़ी सरलता और सुव्यवस्थासे सम्पन्न हो रहा है। भगवान्के सत्य विवेकसे मेरा विवेक पुष्ट हो र है और मैं प्रत्येक परिस्थितिका बड़ी अच्छी तरह सदुपयोग करता हूँ।

जीवनमें नाना विषमताएँ थीं, भगवान्की ओर उन्मुख होते ही वे सब विलीन हो गयी हैं। अ जीवनमें पूर्ण सामञ्जस्य है। अब मैं अपनी शक्ति और सामर्थ्यके सम्बन्धमें पूर्ण विश्वस्त और अपने लि तथा अपनोंके लिये पूर्ण निश्चिन्त हूँ। अब मैं सब प्राणियोंको स्नेहपूरित दृष्टिसे देखता हूँ, अब मेरा हृ धैर्य और क्षमाभावनासे परिप्लुत है।

भगवान् ही मेरी शक्ति, शान्ति एवं विवेकके हेतु हैं।

पूज्यपाद श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महात्मा श्रीनथुराम शर्मा

(अनु० तथा प्रेषक—श्रीसुरेश एम्० भट्ट)

महापुरुषोंने भारतको पुण्यभूमि कहा है । इस भूमिपर समय-समयपर अनेक संत, महात्मा और अवतारी पुरुषोंने प्रकट होकर इसकी आध्यात्मिक सम्पत्तिको बढ़ाया है । मानव-जीवनके सनातन सत्योंको प्रकट किया है । किसी अलौकिक ईश्वरीय योजनाने भारतमें मानव-जीवनकी भूमिकाको उच्चस्थितिमें रखनेके लिये अनेक दिव्य आत्माओंका आविर्भाव स्वीकृत किया है । इसलिये यहाँ सनातन मानव-धर्मके श्रेष्ठ तत्त्वोंका पुष्प-गुच्छ दिखायी पड़ता है । ऐसे मानव-धर्मके श्रेष्ठ तत्त्वोंकी परम्पराके पुरस्कर्ता सद्गुरुवर्य श्रीमान् नथुराम शर्माका जीवन-परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है ।

आचार्यश्रीका जन्म सौराष्ट्रमें लीमडीके पास मोजीदड गाँवमें संवत् १९१४ की आश्विन शुक्ला ४ को हुआ । सदाचारसम्पन्न, धर्मनिष्ठ ब्राह्मणदम्पतिका गृहाङ्गण इस महापुरुषके जन्मसे भाग्यशाली बना और भविष्य-के महान् तत्त्वज्ञानी, समस्त मानवको शाश्वत अभयमन्त्रके दाता, सनातन मानव-धर्मकी प्रत्यक्ष मूर्ति, आत्माकी उन्नति शिवपदतक की जा सके, ऐसे वेदान्त-ज्ञानके साथ योग-विद्याके प्रचारक महात्मा पुरुषकी प्रभुने महागुजरातको भेंट दी ।

पूज्यपादश्रीने बचपनमें प्राथमिक शिक्षणका अभ्यास समाप्त करके ब्राह्मणके कुल-परम्परारूप विद्यावितरणका व्यवसाय ग्रहण किया । तत्कालीन अनुकूलतानुसार राजकोट ट्रेनिंग कालेजमें शिक्षा प्राप्तकर, कॉलेजकी उच्च-परीक्षामें प्रथम कक्षामें उत्तीर्ण होकर अध्यापनकार्य आरम्भ किया । किंतु उन्होंने महान् शिक्षक होनेके लिये जन्म लिया था । इसलिये उनकी नैसर्गिक शक्ति, भावना और कर्तव्यनिष्ठाके लिये यह क्षेत्र पर्याप्त नहीं बन सका । अतएव आचार्यश्रीने अध्यापन-कार्यका त्याग करके लोक-शिक्षककी तरह संत-महंतोंके द्वारा भारतमें स्थापित मार्ग ग्रहण करनेकी तैयारी की और इसके लिये उन्होंने ऋषि-मुनि तथा देवोंके द्वारा सतत सेवित और जहाँसे आर्य-संस्कृतिकी अस्खलित धारा प्रवाहित हुई, उस नगाधिराज हिमालयकी शरण ली ।

हिमालयमें अति कठिन तपश्चर्याके बाद श्रीदक्षिणा-मूर्ति महेश्वरके कल्याणकारी आदेशको हृदयस्थ करके पतितपावनी गङ्गाके तटपर मोक्षपुरी काशीके समीप आनन्दगुहामें विशेषरूपसे तपस्या की । इसके बाद पुराणप्रसिद्ध गिरनारकी तलहटीमें मुचकुन्दगुहामें काष्ठ-मौन धारण करके तप किया । दीर्घकालकी तपश्चर्याके बाद मानव-धर्मके प्रचारके लिये उन्होंने सद्गुरु-आचार्य-की भाँति समग्र गुजरात-सौराष्ट्रमें विचरण करना आरम्भ किया ।

'आचार्य'का अर्थ ऐसा किया जाता है कि जिन्होंने ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् और श्रीमद्भगवद्गीतापर समर्थ भाष्य किये हों, जो स्वयं शास्त्रोक्त सदाचारके अनुसार आचरण करनेवाले हों और जनताको भी उसीके अनुसार आचरण करनेके लिये प्रेरित करें, उन्हें आचार्य कहते हैं। पूज्यपाद श्रीनथुराम शर्माने इसी आदर्शके अनुसार आचार्यपदपर अपनी प्रतिष्ठा स्थापित की । तदुपरान्त वे अनेकों शास्त्रोंके रहस्यभूत व्याख्यान, लेख और पुस्तकोंके द्वारा सदाचाररूप धर्मका प्रचार करने लगे । उन्होंने संस्कृत भाषाके प्राचीन उत्तम ग्रन्थोंमें भरे हुए तत्त्वज्ञानको सीधी-सादी गुजराती भाषामें अवतरित करनेका प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया । गुजरातमें जिन आचार्योंने सदाचार और सद्विद्याकी अजस्र धारा प्रवाहित की, उनमें आचार्यश्री-का नाम उल्लेखनीय है ।

कर्म, उपासना, ज्ञान और योग आदि विषयोंपर

आचार्यश्रीने अनेकों पुस्तकें लिखकर जनताके कल्याणके लिये ज्ञान-वितरणका महान् कार्य किया है। प्रस्थानत्रयी-की टीका, विचारसागरका पद्यविभाग, पंचदशी, महर्षि पतञ्जलिके योगदर्शन एवं कपिलमुनिकृत सांख्यदर्शन आदि महान् ग्रन्थोंपर सुमधुर गुजराती भाषामें टीका लिखकर आपने गुर्जर भाषाको समृद्ध किया। इनके अतिरिक्त उपदेशग्रन्थावलि, अन्तर्यामीके आदेश, योग-कौस्तुभ, योगप्रभाकर, परमपदबोधिनी और विवेकभास्कर आदि उत्तमोत्तम ग्रन्थोंकी रचना करके आचार्यश्रीने उनको प्रकाशित किया। जिज्ञासु पुरुषोंके प्रश्नोंके उत्तररूपमें लिखे हुए आचार्यश्रीके पत्रोंका संग्रह 'सदुपदेशदिवाकर' नामक पुस्तकके रूपमें प्रकाशित हो चुका है, जो व्यवहारशुद्धि और अध्यात्मज्ञानके मार्ग-दर्शनके लिये अत्यन्त सुन्दर है। तदुपरान्त आचार्यश्रीके व्याख्यानोंके संग्रहरूपमें अनेकों पुस्तकें हैं। यों कुल मिलकर छोटी-बड़ी लगभग १२५ पुस्तकें आचार्यश्रीने जनताके कल्याणके लिये प्रदान की हैं। छपाईकी शुद्धिके लिये आचार्यश्री इतने सावधान थे कि वे स्वयं प्रूफ पढ़ते थे। इसीसे आपके द्वारा प्रकाशित किसी भी पुस्तकमें शुद्धिपत्रक देनेकी आवश्यकता नहीं हुई। इसी प्रकार मानवधर्मकी विशुद्धि-के लिये भी आचार्यश्रीकी तत्परतामें बहुश्रुतता एवं ब्रह्म-निष्ठता ओतप्रोत दिखायी पड़ती थी।

आचार्यश्रीने अपने निकट-परिचयमें आये हुए मुमुक्षुओंको विशुद्धि प्रदानकर उन्हें पवित्र नित्यकर्ममें प्रवृत्त किया और आध्यात्मिक कर्तव्य-पालनके साथ-साथ उनको व्यवहारदक्ष भी बनाया। जनकल्याणके इस महत् कार्यके लिये आचार्यश्रीने सौराष्ट्र-गुजरातको ही नहीं, बम्बई, नासिक और कराँचीके प्रदेशोंमें भी परिभ्रमण करके सुप्त जनताको जाग्रत् किया।

पूज्यपादश्रीका समग्र जीवन निष्काम सेवारूप प्रवृत्तिमें संलग्न रहा। जीवनके एक क्षणका भी निरर्थक व्यय न हो, ऐसा आचार्यश्रीका अलिखित मुद्रालेख था। अध्यात्मविद्याके वितरणके साथ उन्होंने स्वाध्यायद्वारा संस्कृत, मराठी, बँगला, हिंदी, उर्दू और अंग्रेजीका भी अभ्यास किया।

हिमालयकी तपोभूमिमें प्राप्त आदेशके अनुसार आचार्यश्रीने अपनी जो जीवनचर्या नियत की थी, उसका आपने आजीवन अस्खलित आचरण किया।

आप प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर रात्रिको ग्यारह बजे शयनके समयपर्यन्त, अनेकों छोटे-बड़े लोकहितकर कार्योंमें रत रहते हुए ठीक समयपर सब काम सुव्यवस्थित आचाररूपसे करते थे। उनका सदा सादा, नियमित व्यवहार और आदर्श आचार था। आचार्यश्रीकी दिनचर्यामें व्यवहार और परमार्थका युगपत् समन्वय रहता था। किसी भी प्रसङ्गमें रजोगुण या तमोगुणके वेगसे आचार्यश्रीमें क्षोभ, प्रमाद या अस्थिरता दिखायी नहीं पड़ती थी। चित्तकी व्यग्रता या स्खलनसे सर्वथा रहित, सदा एकरस धीर-गम्भीर दिनचर्या आचार्यश्रीकी एक अनोखी आकर्षक वस्तु थी।

आचार्यश्रीके सदा-सर्वदा प्रसन्न मुखमुद्रामें शान्त दर्शन होते थे। कठोर समयपालन, कर्तव्यनिष्ठा, ज्ञान-भंडार एवं जनकल्याणकी तीव्र भावना आदि सद्गुणोंसे आचार्यश्रीके समागममें आनेवाले संत विद्वान्, अधिकारी पुरुष और राजनीतिक नेता—सभी आश्चर्यमुग्ध हो जाते थे। आचार्यश्रीकी अक्रोध प्रकृति एवं जितेन्द्रियता सर्वाधिक आकर्षक तथा प्रशंसनीय थी। स्वाश्रित सद्गुण और स्वच्छता आपको बहुत प्रिय थी। आपकी तीव्र स्मरणशक्ति आश्चर्यमयी थी। परिणामका स्वच्छ दर्शन और किसी भी विषयका तलस्पर्शी विचार—ये आचार्यश्रीमें सहज प्राप्त थे। सर्वधर्म-समभाव, धर्मपालन, निःस्पृही-वृत्ति और परोपकारकी उत्कट भावनासे आचार्यश्रीके जीवनमें सदा दैवी ओजस् दिखायी पड़ता था। प्रत्येक क्षणका सदुपयोग करनेकी तत्परतासे आचार्यश्रीमें महापुरुषका आदर्श जीवन प्रतिबिम्बित होता था।

उदार परमत-सहिष्णुता, मण्डनात्मक उपदेशपद्धति, ज्ञान-विज्ञानका तलस्पर्शी आकलन एवं साक्षर और निरक्षरकी पात्रतानुसार उसे सरल भाव और भाषामें समझानेकी कुशलतासे आचार्यश्री मानवधर्मके आचार्य-पदपर विराजित होकर अनोखा आदर्श उपस्थित करते थे। नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका ओजस् आपकी भव्य मुखमुद्रापर सदैव अङ्कित रहता था।

संत-महात्माओंके विहरणसे पवित्र हुए गिरनारकी पुनीत छायामें बीलखा (सौराष्ट्र) स्थानमें स्थापित आनन्दाश्रम आचार्यश्रीका निवासस्थान था। आपके निवाससे वह आश्रम भी सात्त्विक, सुन्दर और शान्तिप्रद बन गया। इस आश्रमकी सादगी मुमुक्षुओंके लिये सदा आकर्षक बनी रही। आश्रममें प्राचीन-अर्वाचीन पद्धतिका विलक्षण समन्वय था। उसमें श्रीदक्षिणामूर्ति-पुस्तकालयमें साहित्यका विपुल भंडार है। वहाँ अभी श्रीदक्षिणामूर्ति नाथमन्दिर और पूज्यपादश्रीका समाधिमन्दिर सुन्दर बगीचेसे सुशोभित हैं।

आनन्दाश्रमके नियमानुसार वहाँ प्रमाद, आलस्य, दीर्घसूत्रता आदिका त्याग करके आश्रमवासियोंको अपने विशुद्ध नित्यकर्ममें अनुरक्त रहना पड़ता है। सावधानीसे कर्तव्यपालन, नियमितता एवं विशुद्ध सदाचरण करनेवाले नियमानुवर्ती व्यक्ति ही वहाँ रहते हैं। पूज्यपादश्रीने अपने जीवनमें जैसा सिद्धान्त मूर्तिमान् किया और जिनका उपदेश किया, उन्हीं सिद्धान्तोंका उन्होंने आनन्दाश्रमद्वारा प्रचार किया।

आचार्यश्रीके उपदेशमें 'व्यवहारशुद्धिपर पूरा बल रहता था, सारांश यह कि उन्होंने 'व्यवहारका सेवन धर्मबुद्धिमें चरितार्थ किया जाय' यह शिक्षा दी। जगत्के सर्वधर्म—महासागरमें जैसे सरिताएँ मिल जाती हैं, उसी तरह मिल जाते हैं उस महासागर सनातन-मानवधर्ममें। उस मानव-धर्मका विशुद्धिपूर्वक सदाचरण आचार्यश्रीने जीवनपर्यन्त किया और उसीका उपदेश दिया। उनके प्रवचनका लाभ सभी धर्मों एवं वर्गोंके लोगोंने प्राप्त किया था। आचार्यश्रीने किसी धर्मकी टीका-टिप्पणी न करके सर्वधर्मसमन्वयकी पद्धतिको अपनाया था।

ऐसे धुरंधर, सद्गुरुवर्य आचार्यने पचास वर्षोंतक सतत सदुपदेशका प्रवाह बहाकर ७३ वर्षकी वय होनेपर स्वरूपावस्थान किया। आज उसे २६ वर्ष बीत चुके हैं; किंतु आचार्यश्रीकी अक्षयकीर्तिका प्रसार करता हुआ आपका अक्षर देह सदा विलस रहा है।

['आकाशवाणी' राजकोटसे साभार अनुवादित]

क्षमा

भोले, ऐसा भोलापन दे।
भूलूँ और क्षमा कर पाऊँ, ऐसा मुझको मन दे॥
नेकी करूँ, कुएँमें डालूँ, प्रत्युपकार न चाहूँ।
बदी करे जो, उससे बदला कभी न लेना चाहूँ॥
बुरा किसीका कभी न चाहूँ, करूँ बुरा न किसीका।
करूँ बड़ाई और भला ही करूँ व चाहूँ सबका॥
पकड़ूँ सीधी राह व बोलूँ सीधी-सच्ची वाणी।
मनमें समझूँ हैं ये मेरे आत्मरूप सब प्राणी॥
अपनेको भी क्षमा कर सकूँ, बनूँ मित्र मैं अपना।
माधवके प्रभु भोले शंकर! सत्य करो यह सपना॥

—मधुसूदन वाजपेयी

कथा-सत्र

(लेखक—ब्रह्मचारी श्रीप्रभुदत्तजी महाराज)

शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः।
स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात्॥
शृण्वतां स्वकथां कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम्॥*
(श्रीमद्भा० १। २। १६-१७)

छप्पय

सुनहु विप्रगन ! परम रहसमय बात सुनाऊँ।
लोक और परलोक बने, सो युक्ति बताऊँ॥
श्रद्धा तैं श्रवनेच्छु पुन्य तीर्थनि में रहि कैं।
करि संतनि कौ संग प्रेम तैं तिनि पद गहि कैं॥
पुन्य श्रवन कीर्तन रमन, कृष्ण कथा निज रुचि करैं।
उभय लोक सुखकर करैं, प्रभु हिय के सब अघ हरैं॥

जीवनमें किसी प्रकार भी यदि भगवान्‌की कथाओं-में रुचि हो जाय, भगवत्-कथा कानोंको मधुर और हृदयको सुखकर लगने लगे तो हृदयके सभी मल धुल जायँ; किंतु विषय-भोगोंमें ही सुख समझनेवाले हम संसारी प्राणियोंको कृष्ण-कथामें अनुराग होता नहीं। वैसे किसीकी निन्दा-स्तुति सुननी पड़े तो पूरी रात्रि बिना सोये बिता देंगे; किंतु जहाँ भगवत्-कथा सुननेका प्रसङ्ग आया कि आँखोंमें झपकियाँ आने लगेंगी, चित्त चाहेगा कब यह समाप्त हो। आप सोचिये—देवदत्त ऐसा था, उसने ऐसा किया, वैसा किया, उस माता-बहिन-पुत्रीने यह किया, यज्ञदत्त वैसा है, विश्वमित्र बड़ा पाखण्डी है। इन बातोंके कहने और सुननेसे क्या मिल जायगा। यदि वे बुरे हैं तो तुम्हारे बुराई करनेसे वे अच्छे तो हो नहीं जायँगे। उलटे उनके दोष कहते-कहते कुछ दोष तुम्हारे भीतर भी चिपके रह जायँगे। जैसे गीले वस्त्रमें आटा लो और फिर उसे किसीको लौटा दो तो कुछ-न-कुछ आटा उसमें चिपका रह ही जायगा, उसी प्रकार दूसरोंके दोष कहनेवालेके मनमें कुछ दोष तो अवश्य आ जायँगे। इसीलिये श्रीमद्भागवतमें कहा है—

यदधर्मकृतं पापं सूचकस्यापि तद् भवेत्।

'अधर्म करनेवालेको जो पाप लगता है, उस पापको जो दूसरोंपर प्रकट करता है, उसे भी पाप लगता है।' इसी प्रकार जो दूसरोंके पुण्यकर्मोंकी प्रशंसा करता है, उसे भी पुण्यका कुछ भाग (कमीशन) प्राप्त हो जाता है।

इससे सिद्ध हुआ कि पर-चर्चा, पर-निन्दा करनेसे न तो अपना ही कोई लाभ है, किंतु हानि ही है और न जिसकी निन्दा करते हैं, उसीका कोई सुधार हो सकता है। पर-निन्दा एक ऐसा विषाक्त व्यसन है, जो पान करनेमें तो मीठा लगता है, किंतु उसका परिणाम अत्यन्त दुःखद है। ग्राम्य कथा—परचर्चा न सुनकर यदि प्राणी कृष्ण-कथा सुने, भगवच्चर्चा श्रवण करे तो उसके यह लोक और परलोक दोनों ही बन जायँ। मानव-जीवनकी सफलता एकमात्र भगवत्-कथा-श्रवण ही है। भगवान्‌की कथाओंमें रुचि हो जाय तो फिर बेड़ा पार ही है; किंतु प्राणियोंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति तो विषयोंमें है, तब भगवत्-कथाओंमें रुचि कैसे हो ?

भगवान्‌की कथाओंमें रुचि होनेके चार ही साधन हैं। सर्वप्रथम तो प्राणीके हृदयमें सुननेकी इच्छा होनी चाहिये, चाहे वह आरम्भमें यत्किंचित् ही क्यों न हो। बिना कुछ श्रवणेच्छाका बीज हुए कोई कथा-श्रवणमें

* सूतजी कहते हैं—'हे विप्रगण ! श्रद्धावान् श्रवणेच्छु पुरुषकी महापुरुषोंकी सेवासे तथा पुण्य-तीर्थोंमें वास करनेसे भगवान् वासुदेवकी कथामें रुचि उत्पन्न होती है। जो भगवान् साधुजनोंके सुहृद् हैं तथा पुण्य-श्रवण-कीर्तन हैं, वे श्रद्धालु भक्तोंके हृदयमें विराजमान होकर उनकी समस्त अशुभ वासनाओंको नष्ट कर देते हैं।

प्रवृत्त ही नहीं हो सकता। थोड़ी इच्छा बढ़ायी जा सकती है; किंतु जिसके हृदयमें सुननेका बीज ही न हो, वह तो लाख प्रयत्न करनेपर भी कथामें बैठेगा ही नहीं। आरम्भमें थोड़ा हो तो वह अनन्त हो सकता है। इस सम्बन्धमें एक कथा है।

एक बार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र पाण्डवोंके राजसूय यज्ञमें आये थे। पाण्डव तो अपना सर्वस्व श्रीकृष्णको समर्पण करके निश्चिन्त ही रहते थे। सब सार-सम्हार श्यामसुन्दरको ही करनी पड़ती थी। कुछ काम करते हुए भगवान् वासुदेवकी उँगलीमें चाकू आदिसे कुछ चोट लग गयी, रक्त बहने लगा। अन्तःपुरकी बात है—बहुत-सी स्त्रियाँ थीं, सब हाय-हाय चिल्लाने लगीं। कोई कहती—पानी लाओ; कोई कहती—शीघ्रतासे एक वस्त्र तो लाओ, इसमें बाँधना है। द्रौपदीजी भी वहीं थीं। वस्त्रका नाम सुनते ही वे जो बहुमूल्य साड़ी पहिने थीं, तुरंत उन्होंने फाड़कर श्यामसुन्दरकी उँगलीमें बाँध दिया। भगवान्ने कहा—'अरे द्रौपदी! यह क्या कर रही हो? इतनी मूल्यवान् साड़ीको फाड़ रही हो, दूसरा वस्त्र आ जाता।'

आँखोंमें आँसू भरकर पाञ्चालीने कहा—'प्रभो! इस अनित्य और तुच्छ साड़ीका बिगड़ा ही क्या? वास्तविक उपयोग तो इसका अभी हुआ। तुम्हारी दी हुई यदि तुम्हारी सेवामें लग जाय तो यही तो वस्तुओंका सदुपयोग है। इस अनित्य नाशवान् शरीरको सजाये रहना—यही तो वस्तुओंका उपयोग नहीं है।'

भगवान् हँस पड़े और बोले—'द्रुपदनन्दिनी! मुझे जो अल्प अर्पण करता है, उसके बदलेमें मुझे अनन्त देना होता है; क्योंकि मैं अनन्त हूँ, जीव तो अल्प ही है।'

इसीलिये जब दुश्शासनने द्रुपदसुताका चीर खींचा, तब भगवान्को उसके दिये हुए चीरकी याद आयी। इसने मुझे चीर दिया था, तब मैं भी इसके चीरको अनन्त कर दूँ। तभी तो दस सहस्र हाथियोंके बलवाला दुश्शासन पूरी शक्तिसे चीर खींचता जाता था। रंग-विरंगी साड़ियोंके पहाड़ लग गये; किंतु उस द्रुपदसुताके चीरका अन्त नहीं हुआ। उसका चीर अनन्त बन गया।

दुश्शासनकौ बल बढ्यौ, घट्यौ न दस गज चीर।

कहनेका अभिप्राय इतना ही है कि सुननेके कुछ छिपे हुए भी संस्कार अवश्य होने चाहिये। संस्कारहीन पुरुष रात्रि-दिन समीप रहनेपर भी भगवत्-कथाओंसे लाभ नहीं उठाते। इसलिये श्रवणेच्छा प्रथम गुण है।

दूसरा गुण है—भगवत्-गुणोंमें श्रद्धा होना। बिना श्रद्धाके कोई कार्य सम्पन्न नहीं होता। यह पुरुष श्रद्धामय है—जिसकी जैसी श्रद्धा होगी, वह वैसा ही हो जायगा। देवतामें, तीर्थमें, भगवत्-प्रतिमाओंमें तथा गुरुमें और ओषधिमें श्रद्धाके ही अनुरूप फल मिलता है। श्रद्धाहीन पुरुष यथार्थ वस्तुको धारण ही नहीं कर सकता। इसलिये भगवत्कथाओंमें रुचि होनेके लिये श्रद्धा होना अनिवार्य है।

स्वयं पुस्तकोंद्वारा पढ़ लेनेमें तथा महापुरुषों—संत-महात्माओंके निकट रहकर उनके मुखारविन्दसे सुननेमें बहुत अन्तर है। जड पुस्तकके माध्यमसे जो सुना या पढ़ा जायगा, उसमें ज्ञान तो रहेगा ही, बोध तो हो ही जायगा; क्योंकि उसमें भी किसी चैतन्यद्वारा ही ज्ञान लिखा गया है। किंतु स्वयं साक्षात् चैतन्यके द्वारा—संत-महात्माओंके मुखसे जो सुना जायगा उसमें ओज, तेज, स्फूर्ति और चैतन्यांश अधिक होगा। वह भी यदि बहुत-से साधु पुरुषोंके बीचमें बैठकर सुना जाय तो उसमें अनन्तगुना रस बढ़ जायगा। कारण कि उन सभी समुपस्थित संतोंकी भावना मिलकर एक अपूर्व वातावरणको उत्पन्न कर देती है। उसमें विद्युत्-जैसी शक्ति आ जाती है। इसीलिये महाराज पृथुने भगवान्से यही वर

माँगा था—प्रभो ! महापुरुषोंके मुखसे निस्सृत आपकी अमृतमयी कथा मुझे सुननेको मिल जाय, मेरे कानोंमें उसे सुननेके लिये दस सहस्र कानोंकी-सी शक्ति आ जाय, यही वर मुझे दें; क्योंकि महापुरुषोंके मुखसे निस्सृत आपके चरणारविन्दोंके कणोंसे युक्त वायु तत्त्व-मार्गको विस्मृत जो योगभ्रष्ट साधक हैं, पतित योगी हैं, उनकी स्मृतिको पुनः जाग्रत् कर देता है । अर्थात् भगवत्-कथा-श्रवणसे ही उन्हें अपने पूर्वजन्मोंके किये हुए सुकृत स्मरण हो आते हैं । इसीसे उनकी कथा-श्रवणमें अधिकाधिक इच्छा बढ़ती है । इसीलिये आपकी सुयश-कथा-सुधाके अतिरिक्त हमें कोई भी दूसरा अन्य वर नहीं चाहिये ।*

श्रीमद्भागवतमें तथा अन्यान्य सभी ग्रन्थोंमें बारंबार इसी बातपर बल दिया गया है कि महापुरुषोंके मुखसे निस्सृत जो कथामृत है, उसीसे समस्त क्लेश, दुःख, क्षुधा-पिपासा आदि शोक-मोह शान्त हो जाते हैं । इसलिये आरम्भमें श्रद्धा थोड़ी ही क्यों न हो, कथामें बैठकर श्रद्धापूर्वक उसे सुनना चाहिये ।

तीसरा गुण श्रवणकर्ता साधकमें यह होना चाहिये कि उसका अनुराग महापुरुषोंकी सेवा-शुश्रूषामें हो । संसारमें जो कुछ भी प्राप्त होता है, सेवासे ही प्राप्त होता है । संसारमें जितने महापुरुष हुए हैं, उन्होंने जो यश, कीर्ति, प्रतिष्ठा, नाम तथा महत्त्व प्राप्त किया है, एकमात्र सेवासे ही किया है—वह सेवा चाहे धर्मकी हो, जाति-की हो, समाजकी हो, देशकी हो, भगवान् अथवा संत-महात्माकी हो । सेवासे आप जो भी चाहेंगे, वही प्राप्त कर सकेंगे । 'सेवया किं न लभ्यते'—संसारमें ऐसी कौन-सी दुर्लभ वस्तु है, जो सेवासे प्राप्त न हो सके । नीतिकारों-का कथन है—यह सम्पूर्ण पृथिवी सुवर्णके पुष्पोंसे लदी हुई है, किंतु उन सुवर्ण-पुष्पोंको सभी नहीं तोड़ सकते । तीन लोग ही उन पुष्पोंको तोड़कर एकत्रित कर सकते हैं—एक तो वे जो शूरवीर हों, दूसरे वे जिन्होंने पूर्ण-रूपसे विद्या प्राप्त की हो और तीसरे वे जो सेवा करना जानते हों । शूरवीरता और विद्या भी बिना सेवाके प्राप्त नहीं होती । अतः सिद्ध हुआ कि एकमात्र सेवाव्रती ही समस्त कार्योंमें सफलता प्राप्त कर सकता है । अतः कथा-प्रेमी, भगवद्-भजन-पूजनमें निरत परमार्थ-पथके पथिकोंके साथ रहकर ही कथाको श्रवण करना चाहिये । सत्र उसे कहते हैं कि कुछ समान विद्या-बुद्धिवाले साधक मिलकर भगवत्-चर्चामें समय बितायें—उनमेंसे कोई एक वक्ता बन जाय, शेष सब श्रोता हो जायँ । सनक, सनन्दन, सनत्कुमार और सनातन—ये चारो भाई विद्या, बुद्धि, तप तथा प्रेममें समान थे । वे जब सत्र करते, कोई भी एक वक्ता बन जाता, शेष तीनों श्रोता बनकर सुनते । तभी कथामें रस आता है, तभी उसमें अपूर्व आनन्दकी अभिवृद्धि होती है । अपनेसे विद्या-बुद्धि तथा वयमें जो बड़े हों, उनकी सेवा करनेसे उनका सम्मान, आदर तथा अभिनन्दन करनेसे श्रद्धा बढ़ती है, पात्रता आती है, विनय-सदाचार-की वृद्धि होती है और आयु, विद्या, यश तथा बलकी अभिवृद्धि होती है । अतः सेवाभावको मनमें रखकर उसे कार्यरूपमें परिणत करते हुए कथा श्रवण करनी चाहिये ।

चौथा गुण है पुण्य तीर्थोंका निषेवण । मनपर वातावरणका बड़ा प्रभाव पड़ता है, आप किसी स्थानमें आते ही इसका प्रत्यक्ष अनुभव करेंगे । किसी साधु-महात्माके शुद्ध पवित्र स्थानपर जाते ही मन बड़ा ही शान्त हो जाता है । पहले मैं यहीं झूँसीमें समीप ही हंसतीर्थमें एक विशाल वटवृक्षके नीचे रहता था । वृक्ष बड़ा भारी विशाल सघन है, उसके नीचे एक छोटी कुटी थी, उसमें बहुत-से संत पूर्वमें तपस्या कर चुके थे । नीचे

* स उत्तमश्लोक महन्मुखच्युतो
भवत्पदाम्भोजसुधाकणानिलः ।
स्मृतिं पुनर्विस्मृततत्त्ववर्त्मनां
कुयोगिनां नो वितरत्यलं वरैः ॥
(श्रीमद्भा० ४ । २० । २५)

हमने बड़ा भारी चबूतरा बना लिया था, कुछ प्रेमी बन्धु उसे बहुत अधिक स्वच्छ रखते, लीप-पोतकर निर्मल रखते। गङ्गा-किनारे शान्त एकान्त निर्जन रमणीक स्वच्छ लिपे-पुते उस स्थानको देखकर जो भी वहाँसे निकलता, उसीके मुखसे हठात् निकल पड़ता—'कैसा शान्त स्थान है;' कोई कहता—'काकभुशुण्डिका स्थान है।' इस प्रकार स्थानका मनपर बड़ा प्रभाव पड़ता है। तीर्थोंमें युग-युगसे हमारी पवित्र भावना रही है। अब भी लाखों यात्री पवित्र भावनासे श्रद्धापूर्वक यात्रा करते हैं। इससे वहाँके वातावरणमें अब भी आध्यात्मिकता संनिहित है। इसीलिये तीर्थ-स्थानोंमें किया हुआ जप, अनुष्ठान, यज्ञ-याग तथा दूसरे धार्मिक कृत्योंका अन्य स्थानसे सहस्रोंगुना फल बताया गया है; सुतरां यदि तीर्थ-सेवनपूर्वक भगवत्-कथा सुनी-सुनायी जाय तो उसका प्रभाव अनन्तगुना श्रेष्ठ होता है।

इस प्रकार तीर्थ-स्थानमें रहकर साधु-संतोंकी सेवा करते हुए श्रद्धापूर्वक जो शुश्रूषु कथाका श्रवण करते हैं, उनकी शनैः-शनैः भगवत्-कथाओंमें रुचि बढ़ने लगती है। आरम्भमें जिन्हें हठपूर्वक बैठना पड़ता था, अब उन्हें कथामें रस आने लगता है, बिना कथा-श्रवण किये रहा ही नहीं जाता। जैसे छोटे बच्चेको आरम्भमें जब माता अन्न खिलाती है, तब उसकी इच्छाके विरुद्ध ही उसके मुखमें ठूँस देती है। वह मुँह बनाता है, अनिच्छा प्रकट करता है, उसे उगल देता है; फिर भी माता उसके मुखमें नित्य ही अन्नका ग्रास देती रहती है, अभ्यासको चालू रखती है; नित्य निगलते-निगलते अब उसकी अन्नमें रुचि बढ़ने लगती है, रुचि बढ़ते-बढ़ते वह अन्नमय हो जाता है; फिर उसे एक समय भी अन्न न मिले तो आकाश-पाताल क्रोधके कारण एक कर देता है। इसी प्रकार कथा सुनते-सुनते जिनकी रुचि बढ़ जाती है; उनका जीवन भी कथामय हो जाता है; उन्हें एक दिन भी कथा सुननेको न मिले तो उस दिनको वे अभागा दिन समझते हैं। ऐसे ही एक कथाप्रेमी भगवद्-भक्त थे; वे कहीं ऐसे गाँवमें पहुँच गये, जहाँ कथा-कीर्तन-सत्सङ्गका कोई ढंग ही नहीं था। जाड़ेके दिन थे, शरीरमें चुभनेवाली ठंडी-ठंडी वायु चल रही थी; बादल घिर रहे थे, घनघोर घटाएँ छा रही थीं; आकाशमें बिजली चमक जाती, बादल गरजते। आँधी, पानी, अन्धकार—सभी था। एकने कहा—आज तो बड़ा दुर्दिन है। इसपर वे भक्त बोले—'अरे भैया! आकाश मेघोंसे आच्छन्न हो जाय, आँधी-पानी आ जाय, अँधेरा हो जाय—यही दुर्दिन नहीं है, वास्तवमें दुर्दिन तो वह है, जिस दिन भगवत्-कथासे प्राणी वञ्चित रह जाय।

तद् दिनं दुर्दिनं मन्ये मेघाच्छन्नं न दुर्दिनम्।
यद् दिनं कृष्णपीयूषकथापानादिवर्जितम्॥

वास्तवमें जिसके सम्बन्धमें ऐसी भावना हो जाय, उसीका नाम दुर्दिन है। भगवान्‌की कथा सुनते-सुनते जन्म-जन्मान्तरोंके कल्मष कटते जाते हैं, प्राणीके पूर्व-जन्मके सुकृत उदय होने लगते हैं। इससे उसकी अशुभ वासनाएँ नष्ट होती हैं, अन्तःकरण शुद्ध होने लगता है और शुद्ध अन्तःकरणमें भगवान् आ विराजते हैं। जिसके शुद्ध हृदयमें भगवान् निरन्तर विराजमान दृष्टिगोचर हों, वह प्राणी कृतार्थ हो गया, विमुक्त बन गया। अतः परमपदकी प्राप्तिका सहज-सरल उपाय भगवत्कथाओंका श्रद्धापूर्वक श्रवण करना तथा श्रद्धालु भक्तोंको सुनाना ही है। इसीलिये भक्ति-शास्त्रोंमें बारंबार कथा-श्रवणपर बड़ा बल दिया गया है और सज्जनोंकी यही एकमात्र पहचान बतायी गयी है कि उनके यहाँ नित्य-नियमसे कथा होती है।

आजसे कुछ ही दिन पूर्वतक हमारे देशमें पूर्वसे पश्चिमतक, उत्तरसे दक्षिणतक लाखों त्यागी-विरागी संत-महात्मा विचरण करते रहते थे, जो लोगोंको निःशुल्क—अपना धर्म अथवा कर्तव्य समझकर नित्य

कथा सुनाते थे। कालके प्रभावसे न तो अब उतने त्यागी-विरागी सदाचारी कथा सुनानेवाले संत-महात्मा ही रह गये हैं और न जनतामें ही पहिले-जैसी रुचि ही रही है। अब जो कथा-वाचक हैं भी, उन्होंने कथा कहनेको भी एक व्यवसाय बना लिया है; उनकी दृष्टि कथामें उतनी नहीं रहती, जितनी चढ़ावेपर—भेंटपर रहती है। देनेवाले तो भगवान् ही हैं, प्रारब्धका लिखा तो अवश्य मिलेगा ही; फिर तुम अपने भावोंको दूषित क्यों करते हो ? लोगोंको लोभसे न रिझाकर उन महान् रिझवार श्यामसुन्दरको रिझाओ। तुम्हारे लोक-परलोक दोनो ही बन जायँगे।

बहुत दिनोंसे हम सोच रहे थे—जैसे पहले झूसीमें १४ महीनेका अखण्ड कीर्तन एवं जपानुष्ठान हुआ था, जिसमें साधक मौनी तथा फलाहारी रहकर ६४ मालाओंका जप करते हुए विना क्षौर कराये कथा-कीर्तन और सत्संगमें लगे रहते थे। वैसे ही अबके एक कथा-सत्र भी एक वर्षके लिये किया जाय। उस कीर्तनानुष्ठानका समस्त देशने हार्दिक अभिनन्दन किया और उसके कारण सम्पूर्ण देशमें भगवत्-कीर्तन-अनुष्ठानको बहुत कुछ प्रेरणा मिली। भगवन्नामकीर्तनका व्यापक प्रचार हुआ। उसी प्रकार कथाका भी प्रचार हो।

यदि भगवत्-कृपा हुई तथा योग्य साधक और समुचित साधन जुट गये तो इसी गुरु-पूर्णिमासे ६-६ महीनेके दो अनुष्ठान करनेका विचार है। जो साधक उसमें सम्मिलित हों, उनके निवास, भोजन तथा पुस्तकादिका सभी प्रबन्ध आश्रमकी ओरसे हो। उसमें निरन्तर कथाओंका क्रम चलता ही रहे। योग्य विद्वान् कथा-वाचकोंके द्वारा उन्हें कथा कहनेकी शिक्षा दी जाय। यह एक प्रकारसे कथाका प्रशिक्षण होगा। भगवान् नन्दनन्दनके चरणारविन्दोंमें हमारी यही प्रार्थना है कि वे अपने चरणारविन्दोंमें हमारा अनुराग उत्पन्न करें और हमारे देशमें विशुद्ध परोपकारी त्यागी विरागी सदाचारी अधिक-से-अधिक कथावाचक उत्पन्न हों, जो गाँव-गाँवमें जाकर लोगोंको त्रितापोंको नाश करनेवाली भगवान्की ललित लीलाओंकी कमनीय कथाओंको सुनाकर उनके लोक-परलोक दोनोको सुखमय बनावें।*

अब भगवदीय शक्ति मेरे जीवनमें सक्रिय हो रही है

भगवान् मुझपर विना किसी शर्तके विना किसी अपेक्षासे सहज ही अपनी कृपा-सुधाकी वर्षा कर रहे हैं। इस भगवत्कृपाके प्रभावसे मुझे निश्चय हो गया है कि मेरा जीवन नित्य-निरन्तर मङ्गलसे कल्याणसे ही ओत-प्रोत है।

मुझे विश्वास है कि भगवान् निरन्तर मुझे अपने वाञ्छित शुभसे भी कहीं अधिक अनन्त शुभ दे रहे हैं, किंतु उस शुभको ग्रहण करनेके लिये अपनेको तैयार करना मेरा काम था। इस तैयारीमें सबसे पहले मुझे अभाव, दैन्य, संघर्ष एवं रोगमूलक विचारोंको अपने मनसे निकाल बाहर करनेकी आवश्यकता थी। सो उनको मैंने भगवान्की कृपाशक्तिके बल निकाल दिया है। अब मैं जीवनमें भगवच्छक्तिके अतिरिक्त अन्य किसी शक्तिको सक्रिय नहीं होने देता। भगवच्छक्ति परम मङ्गलमय है, अतएव मेरा जीवन मङ्गलसे भर गया है तथा स्थान न पानेके कारण अभाव आदि स्वतः कूच कर गये हैं।

अब मैं अपने जीवनको घृणा, असंतोष, दुःख, निराशा, ग्लानि आदिके प्रभावसे सर्वथा परिष्कृत-कर उसे भगवान्के प्रेम, संतोष, प्रसन्नता, आशा, उत्साह, विवेक और विश्वाससे ओतप्रोत पाता हूँ। और इसलिये मैं चिन्मयी भगवदीय शक्तिको अपनेमें तथा अपने माध्यमद्वारा जगत्में सक्रिय होनेमें सहायक सिद्ध हो रहा हूँ।

अब भगवदीय शक्ति मेरे जीवनमें सक्रिय हो रही है।

* जो सज्जन इस कथा-सत्रमें श्रोतारूपसे या साधकरूपसे सम्मिलित होना चाहें, वे अपनी अवस्था, योग्यता तथा वृत्ति आदिका पूरा परिचय लिखकर यहाँ भेजें और जबतक यहाँसे बुलावेका पत्र न जाय, तबतक आयें नहीं। ५० नये साधक अभी इस सत्रमें रखनेका विचार है।

रस-दर्शन

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

संसारमें सभी प्राणी रसके प्रेमी हैं, रसके पीछे चारो ओर भागदौड़ दीख पड़ रही है, सभी रसकी अतृप्त प्यास बुझाना चाहते हैं। कहीं-कहीं तो यही प्रतीत होता है कि अब ऐसा रस मिल गया कि पूर्ण तृप्ति हो गयी, इससे अधिक कुछ चाहिये ही नहीं; पर कुछ ही क्षणोंके बाद वही तृप्ति नवीन कामनामें विलीन हो जाती है। रसकी प्यास बुझनेके बदले और अधिक बढ़ती दीख पड़ती है। रसास्वादके प्रलोभनसे ही जीवनमें प्रगति होती है; पर जहाँ रसास्वादका भोग होता है, वहीं जीवनकी गति रुक जाती है और अवनति होने लगती है। इसे विवेकी ही देख पाते हैं। यद्यपि हम सभी प्राणी अपने सब अङ्गोंके द्वारा रसास्वादकी प्यास बुझाकर नित्य तृप्त रहना चाहते हैं, फिर भी हम देखते हैं कि जीवनकी सारी शक्ति रसकी भेंट देकर अन्तमें अतृप्तिका अनुभव करते हुए अपनेसे आगे बढ़े हुए रसके प्यासे पथिक अतृप्त ही हैं। गुरु-विवेककी कृपासे यह दीख रहा है कि रूपका रस लेते-लेते आँखोंकी ज्योति चली गयी, शब्दका रसपान करते-करते कान बहरे हो गये, रसनाका रस लेते-लेते दाँत गिर गये, स्पर्शका रस लेते-लेते त्वचा संज्ञाशून्य हो चली, गन्धका रस लेते-लेते घ्राण-शक्ति क्षीण हो गयी; पर तृप्ति न हो सकी, रसास्वादकी तृष्णा वैसी ही बनी रही। संसारमें जहाँ कहीं रसकी प्रतीति होती है, जिस किसी वस्तु, व्यक्ति, अवस्था तथा परिस्थितिके द्वारा रसास्वाद मिलता है, वहीं—उसीसे ममता-मोह-लोभ हो जाते हैं। रसासक्त प्राणी जिस वस्तु, व्यक्ति, अवस्था और परिस्थितिके संयोगसे रसास्वादन करता है, वह कुछ भी नित्य नहीं है; जो कुछ भी मिलता है, जिस किसीका भी संयोग होता है, उसको कोई भी सदा बनाये नहीं रख सकता; उसमें परिवर्तन है, ह्रास है, उसका कभी-न-कभी विनाश होता है। रसास्वादके परिणाममें ही न चाहते हुए भी जो दुःख-कष्ट देखने पड़ते हैं, उनसे बचनेके लिये एक अमोघ उपाय यह है कि अनित्य वस्तुको रसका आश्रय न मानकर नित्य-अपरिवर्तनशील सत्यको ही सर्वभावसे रसका परमाश्रय जान लिया जाय।

प्रपञ्ची और परमार्थी मानवमें यही अन्तर है कि प्रपञ्ची अपनी तृप्ति सांसारिक वस्तुओं और व्यक्तियोंके द्वारा करना चाहता है, सांसारिक वस्तु तथा व्यक्ति अनित्य हैं, इसलिये वस्तु-व्यक्तिके ह्रास-विनाश होनेपर प्रपञ्ची सुखका अन्त दुःखरूपमें देखता है। परमार्थी मानव अपनी तृप्तिके लिये अविनाशी परमात्माकी शरण लेता है—उस परमात्माका जिसका स्वयं कोई रूप नहीं है, अपना कोई भाव नहीं है, जो सर्वरूपमय तथा सर्व-भावमय बन सकता है; यही कारण है कि परमात्माका प्रेमी किसी भी भाव, रूप या स्थानमें उसकी उपासना करते हुए स्वतन्त्रतापूर्वक तृप्त होता रह सकता है। परमात्माके भावमय रूपमें ह्रास-विनाश होना ही नहीं है, इसलिये परमात्माके भक्त उससे सम्बन्ध जोड़कर अपने भावानुसार रस लेते रहनेके लिये स्वतन्त्र हैं; इसके विपरीत संसारके वस्तु-व्यक्तिसे भावानुसार रस लेते रहनेमें सभी प्राणी परतन्त्र हैं।

निम्न कोषोंमें शब्द-स्पर्श-गन्ध-रूप-रसका आस्वाद लेते रहनेकी जो भूख है, उसे बलात् दबानेके लिये हठपूर्वक कोई तपका आश्रय भले ही ले; पर उसको मिटाया नहीं जा सकता; इसीलिये साधन-विज्ञानके अनुभवी महापुरुषोंने निम्न कोषकी इस भूखको तृप्त करनेके लिये परमेश्वरमें ही दिव्य रूप-शब्द-स्पर्श-गन्ध-

रसकी भावना की। इस प्रकार सर्व-भावमय परमात्माकी स्वतन्त्र उपासनासे निम्न कोषोंकी तृप्ति करनेके लिये किसीने वात्सल्य-भाव, किसीने दास्य-भाव, किसीने सख्य-भाव तथा किसीने कान्ता और मधुर-भावसे उपासना करते हुए निम्न-कोषोंके अभिमानी जीवकी रसपिपासाको तृप्त करते हुए विज्ञानमय कोषके विकसित होनेपर भगवत्तत्त्वके अनुभवसे अखण्ड रस और आनन्दमय कोषको साधन बनाकर प्रेमयोग—भक्तियोगद्वारा अनन्त रसके आस्वादनका संदेश परमार्थी साधकोंको प्रदान किया। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोषकी सीमामें रसानुभूति भिन्न-भिन्न प्रकारकी होती है। अन्नमय कोषके अभिमानीको भूख तथा नींदकी पूर्तिमें रस आता है; प्राणमय कोषके अभिमानीको इन्द्रियोंके विषय-संयोगमें रस आता है, यहाँ क्रियाकी प्रधानता रहती है। मनोमय कोषका अभिमानी कामना-पूर्तिमें रस लेता है, यहाँ भाव अथवा अपनत्वकी प्रधानता है। विज्ञानमय कोषके अभिमानीको सद्-असद्-विवेचन—तत्त्व-दर्शनमें रस आता है, यहाँ ज्ञान-विवेककी प्रधानता है। आनन्दमय कोषके अभिमानीको सत्य—परम प्रियतमसे अभिन्न होनेमें रस आता है, यहाँ निष्काम प्रेम प्रधान है। मानवमें जबतक विज्ञानमय-आनन्दमय कोष विकसित नहीं होते, तबतक निम्न कोषोंमें लोभ-मोह-मान-भोगकी ही प्रबलता रहती है।

मानवका अन्तिम लक्ष्य जीवनमें पूर्णता प्राप्त करना है; यह पूर्णता उससे नहीं मिल सकती, जो स्वयं अपूर्ण है। यद्यपि मनुष्य पुरुषार्थ—प्रयत्नके द्वारा संसारमें आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त करता है, कहीं-कहीं उसे अपनी सिद्धिपर पूर्ण संतोष होता है; पर कालचक्रमें चलते हुए सफलता और सिद्धिके अभिमानीको विवेक-प्रकाशमें स्पष्ट दीखने लगता है कि संसारकी समस्त सफलता और सिद्धियाँ आकुलतासे अनुरञ्जित हैं, प्राप्ति-कालमें, रक्षाको तथा भोगके कालमें विनाशकी चिन्तासे क्रमशः संयुक्त और क्षीणता तथा शोकसे ग्रस्त हैं। जीवनमें बड़ी-बड़ी सफलताओं और सिद्धियोंके साथ जहाँ कहीं अशान्ति-अतृप्ति आती है, वहीं बलात् वह पूर्णताके योगके लिये प्रेरित करती है तथा रस-लोलुप जीवके रसास्वादमें बाधा बनकर शिक्षा देती है कि यह नीरसताके सम्पुटमें घिरा अनित्य रस है। जीवनमें पूर्णता प्राप्त करनेके लिये अथवा अखण्ड रस या अनन्त रसमय धाममें पहुँचनेके लिये आरम्भमें साधन-रूप क्रिया, क्रियाके पीछे सुविधि, सुविधिके साथ पवित्र प्रीतियुक्त सद्भाव, सद्भावके साथ विवेक-ज्ञान, विवेक-ज्ञानके साथ प्रेम-योग अत्यन्त आवश्यक हैं।

क्रियाजनित रसकी अपेक्षा भावजनित रस अधिक श्रेष्ठ, सुखकर है; भावजनित रसकी अपेक्षा ज्ञानजनित रस अत्यधिक उत्तम है; ज्ञानजनित रसकी अपेक्षा प्रेमजनित रस परमोत्तम है; इससे भी परे बोधजनित रस है, पर वह अवर्णनीय है। क्रियाजनित रसकी आसक्ति भावविकासमें बाधक है। भावजनित रसका राग ज्ञानजनित समाधिके रसमें बाधक है। ज्ञानजनित समाधिका रस प्रेमजनित रसके बोधमें बाधक हो जाता है। निम्नकोटिके रसकी आसक्तिका त्याग करते ही उससे उत्तम रसकी उपलब्धि उत्तरोत्तर होती जाती है।

साधनकी पूर्णतामें आरम्भसे अथवा मध्यमें बाधा डालनेवाली क्रियाजनित अथवा भावजनित रसकी आसक्ति है। जबतक मनको रसका आस्वादन मिलता रहता है, तबतक लक्ष्य-प्राप्तिके लिये व्याकुलता प्रबल नहीं होती। व्याकुलतासे ही साधनमें प्रगति होती है, व्याकुलताकी वेदनामें संसारके सारे रस नीरस दीखने लग जाते हैं। साधनकी सिद्धि-असिद्धिका दर्शन—गति-दुर्गति-सद्गति-परमगतिका भेद विवेकवती बुद्धिके द्वारा ही दीखता है। जबतक साधककी साधनामें विवेकका योग नहीं होता, तबतक बिना

बुलाये आनेवाले लोभ, मोह, अभिमान, प्रमाद, स्वच्छन्दता आदि विघ्नकारी दोषोंका सम्यक् ज्ञान नहीं हो पाता । कदाचित् दोषोंका ज्ञान भी हो गया, तो दोषोंके रहनेका पूर्ण दुःख नहीं होता; सद्गुण तथा प्रेमकी कमी होते हुए भी पूर्णताके लिये व्याकुलता नहीं होती । व्याकुलता इसलिये नहीं होती कि कुछ करते-मानते-जानते हुए रस आता रहता है । रसका प्यासा प्राणी न जाननेके कारण अनित्य वस्तुके संयोगसे नित्य तृप्तिकी आशा करता है और कभी-न-कभी उसे निराश होना पड़ता है । संसारमें जितने प्राणी वियोग, हानि, अपमान, अपयश, अभाव तथा अन्यान्य कारणोंसे जहाँ कहीं दुखी होते हैं, वे केवल अनित्य वस्तु-व्यक्ति-अवस्था-परिस्थितिमें रसासक्त होनेके कारण ही दुखी होते हैं और दुखी होकर भी दुःखके मूल कारण नहीं जान पाते ।

गुरुविवेकमें ज्ञात हो सका कि रसके चार भेद हैं—अनित्य, शान्त, अखण्ड और अनन्त । अनित्य वस्तु, व्यक्ति, अवस्था और परिस्थितिके संयोग, भोग तथा उपयोगसे जो रस मिलता है, वह अनित्य है। अनित्य रससे विरक्त होनेपर प्राप्त वस्तु, व्यक्ति, अवस्था और परिस्थितिके प्रति राग—अपनत्वका त्याग ही शान्तरसका आस्वादन है; इसमें अन्यसे आशा या सम्बन्धकी अपेक्षा नहीं रहती । राग-मोह-ममता, संयोगकी दासता, आशा-कामना-इच्छाके त्यागसे यह निरपेक्ष रस अपने-आपमें सुलभ होता है । शान्त रसका स्वतन्त्रतापूर्वक आस्वादन करते हुए महात्यागी-को अखण्ड, चिन्मात्र परमात्म-तत्त्वका बोध होता है; इस बोधमें जो रस आता है, वही अखण्ड रस है । अखण्ड रसका आस्वादन करनेवाले महात्माको स्वानुभूत अखण्ड-तत्त्व जब अनन्त नाम-रूपोंके प्रकाशक परमाश्रय सर्वाधिष्ठान-रूपमें बोधित होता है, तब उससे अभिन्नताकी अनुभूतिमें जो रस आता है, वही अनन्त रस है । अनित्य रसका आस्वादन इन्द्रिय-मनका संयोगी भोगी करता है, शान्तरसका आस्वादन कोई बुद्धियोगी त्यागी करता है, अखण्ड रसका बोध किसी परमात्म-तत्त्वके ज्ञानीको होता है और अनन्त रसकी स्थितिमें कोई प्रेमी ही पहुँच पाता है । अनित्य रसमें आसक्त भोगीजन शान्तरसका आस्वादन नहीं कर पाते; शान्त रससे संतुष्ट हो जानेवाले त्यागी पुरुष अखण्ड रसका अनुभव नहीं कर पाते और अखण्ड रसमें तल्लीन तत्त्ववेत्ता महात्मा अनन्त रसकी महिमा नहीं समझ पाते । अनित्य रसके उत्कृष्ट भोगके लिये तप और पुण्यका संचय आवश्यक है; शान्त रसकी उपलब्धिके लिये अशान्तिपरक इच्छा-कामनाका त्याग आवश्यक है, अखण्ड रसके अनुभवके लिये गुरुकृपाकी परम आवश्यकता है और अनन्त रसका बोध परमेश्वरकी करुणा-अनुकम्पासे होता है ।

निरा भार ! भूपर निस्सार !!

जहाँ न आध्यात्मिक अनुशासन, और न अखिलेश्वरसे प्यार !
सुरा सुन्दरीका यौवन पर छाया मादकतम अधिकार !
गुरु-जनका सत्कार न किंचित्, केशोंका अविरल श्रृङ्गार !
छात्र-वर्गका ऐसा जीवन निरा भार भूपर निस्सार !!

—ब्रह्मानन्द "बन्धु"

मैत्री-भावना एक अमोघ अमृत है

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

अशत्रुरिन्द्रो अभयं नः कृणोतु।'

(अथर्ववेद ६ । ४० । २)

शत्रुरहित इन्द्रदेव हमें शत्रुओंकी ओरसे निर्भय करें।

दूसरोंके प्रति वैरभाव रखनेसे मानस-क्षेत्रमें उत्तेजना और असंतुलन उत्पन्न हो जाता है। हम जिन व्यक्तियों-या शत्रु माने हुए लोगोंसे घृणा करते हैं, उन्हें याद कर अपने ऊपर हावी कर लेते हैं। गुप्त मनमें उन वस्तुओं, व्यक्तियों या शत्रुओंके प्रति भय बना रहता है। मानसिक जगत्में निरन्तर वैर और शत्रुताका भाव बना रहनेसे हमारे स्वास्थ्यपर दूषित प्रभाव पड़ता है। शत्रुभाव हमारी भूख बंद कर देता है, नींद भङ्ग हो जाती है, रक्त-संचालनपर बुरा प्रभाव पड़ता है। अंदर निरन्तर उत्तेजना बनी रहती है। फल यह होता है कि हमारा स्वास्थ्य और प्रसन्नता सदाके लिये नष्ट हो जाते हैं। हम जीवित रहकर भी दुर्भावनाओंके कारण नरककी यातनाएँ भोगते हैं।

स्मरण रखिये—यदि आपके शत्रुओंको कहीं यह ज्ञात हो जाय कि आप सदा उनके बारेमें सोचा करते हैं या चिन्तित रहा करते हैं, वे आपके मनमें सदा टकराते रहते हैं तो वे बहुत प्रसन्न होंगे। अतः शत्रु-भाव कदापि मनमें नहीं रखना चाहिये।

औरंगजेब मुगल-साम्राज्यका अन्तिम शासक था, जिसने सबसे अधिक दिनोंतक राज्य किया। उसका साम्राज्य दूर-दूरतक फैला हुआ था। ऐश्वर्यकी विपुल सामग्री उसे सहज ही प्राप्त थी। किंतु वह कभी मानसिक शान्ति प्राप्त न कर सका। उसका मन सदा शत्रुओंके आक्रमणके भयसे भरा रहता था। उसने अपने भाइयोंके साथ दुर्व्यवहार किया था। हिंदुओंपर कर लगाये थे। वह संगीतादि कलाओंका शत्रु था। उसके शत्रुओंकी संख्या भी बहुत थी। फल यह हुआ कि दीर्घकालतक राज्य करने और एक विशाल भूखण्डका स्वामी होनेपर भी वह सदा अतृप्त और अशान्त ही बना रहा। जो किसीसे शत्रुताका भाव रखेगा, उसे बदलेमें शत्रुता ही मिलेगी।

आज विश्वमें क्रोध, स्वार्थ और हिंसाका प्राचुर्य है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रको विध्वंस कर देना चाहता है। एक-से-एक उग्र और विध्वंसात्मक बम बन रहे हैं। बड़े राष्ट्र छोटोंको हड़प जाना चाहते हैं। विश्वमें झगड़े और मतभेद बढ़ते ही जाते हैं। शत्रुताका बीज बोया जा रहा है और एक दूसरेको नष्ट करनेकी नाना योजनाएँ बन रही हैं। यह सब हम मानवोंका दुर्भाग्य ही है कि विश्व एक ज्वाला-मुखीपर खड़ा प्रतीत होता है।

दैनिक और पारिवारिक जीवनमें द्वेष, कटुता और वैर-भाव पनप रहे हैं। भाई-भाईमें, सास-बहूमें, पिता-पुत्रमें, अफसर-मातहतमें, पति-पत्नीमें कटुता है। इसीसे द्रोह, कटुता, वैर और मनोमालिन्य अंदर-ही-अंदर पनप रहे हैं। ऐसी परिस्थितिमें कैसे शान्ति स्थापित हो सकती है और मनुष्य कैसे सुख, शान्ति तथा आन्तरिक आनन्दका उपभोग कर सकता है।

कटुतासे कटुता बढ़ेगी। हिंसासे हिंसा फैलेगी। विद्वेषसे विद्वेष ही पनपेगा और इनसे विनाश अवश्यम्भावी है। कौरव-पाण्डवोंका विद्वेष कैसे भारतके पतन तथा शक्ति-ह्रासका कारण बना, यह सर्वविदित है। भाई-भाईका तनिक-सा वैमनस्य देशकी अमूल्य जन-शक्तिके ह्रासका कारण बना। उस महायुद्धमें देशके सर्वश्रेष्ठ योद्धा नष्ट हो गये और वर्षोंतक हम उठ न सके।

अन्ताराष्ट्रिय क्षेत्रमें हिटलर और मुसौलिनीका उत्थान ले लीजिये। कितनी हिंसा, दमन-चक्र, क्रूरता, बर्बरता, स्वार्थ और अत्याचारोंसे उन्होंने कमजोर राष्ट्रोंको चूसा, अनगिनत अत्याचार किये, असंख्य निर्दोष व्यक्तियोंकी हत्याएँ हुईं, अपरिमित सम्पदा और जायदादें नष्ट हुईं, सर्वत्र विद्वेष फैला। कुछ दिनोंतक हिंसा और आतङ्कका बोलबाला बना रहा, पर अन्तमें हिंसा और कटुताका विषैला वातावरण फूट निकला। सब कुछ ज्वालामुखीकी तरह जलकर क्षार-क्षार हो गया। शत्रुभाव एक संक्रामक रोगकी तरह है, जो धीरे-धीरे समस्त वातावरणमें व्याप्त होकर उसे विषैला बना देता है।

शत्रुभावकी गंदी विचार-लहरें धीरे-धीरे फैलकर परिवार, समाज, प्रान्त, देश और फिर विश्व भरमें छा जाती हैं। वातावरणमें तनाव आ जाता है। तनावसे चारों ओर दम घोंटनेवाला वातावरण फैल जाता है। इसमें रहनेसे मनुष्यका विकास रुक जाता है—यहाँतक कि जानवर भी उस दूषित वातावरणसे घबरा जाते हैं।

शत्रुभाव मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे अप्राकृतिक है। मनुष्यकी प्रकृति कुछ ऐसी है कि वह परस्पर प्रेम करना चाहता है, मिल-बैठकर प्यारसे जिंदा रहना चाहता है। सहयोग और सौहार्द उसके लिये आसान हैं। प्रेममय रहनेसे उसका व्यक्तित्व स्वभावतः सही दिशाओंमें अपने-आप विकसित होता रहता है। शत्रुभाव मनमें प्रविष्ट हो जानेसे व्यक्तित्वके बहुत-से कोमल और मानवोचित भाग नष्ट हो जाते हैं। मनुष्य प्रेमकी ओर स्वाभाविक रूपसे अग्रसर हो सकता है। कभी-कभी हम मनुष्यको ऊपरी दृष्टिसे ही देखकर यह गलत धारणा बना लेते हैं कि वह शत्रु-भावसे पूर्ण होगा; पर यदि हम उसे गहराईसे देखें, उसकी आत्मासे निकलनेवाले विचारों और भावनाओंको परखें तो हम पायेंगे कि वह वस्तुतः शुभ, पवित्र और कल्याणकारी है; उसमें किसीके विरोधका तत्त्व किंचित् भी नहीं है। यह गुप्त आत्मतत्त्व ही मनुष्यका सच्चा दैवी स्वरूप है, जिसमें सबके लिये पुनीत मैत्रीभाव विराजमान रहता है। प्रेम, दया, सहानुभूति, करुणा, मैत्री हमारे दैवी स्वरूपके दिव्य गुण हैं, जिनके कारण हमें गौरवका अनुभव करना चाहिये और सदा इन्हींको विकसित करनेका प्रयत्न करना चाहिये। जब मनुष्य अपने दैवीगुणोंसे गिर जाता है, तब उसे स्वयं अपने ऊपर लज्जाका अनुभव होता है। वह आत्मग्लानिसे भर जाता है। वह ऐसा अनुभव करता है जैसे अपने महान् उत्तरदायित्वसे नीचे गिर रहा हो। बड़े-से-बड़ा आदमी यदि किसी दुर्भावनाका शिकार होता है तो आत्मिक पतनका अनुभव करता है।

स्मरण रखिये, अन्यायपूर्वक किसीको सताना दुष्टता है। आप यदि किसीको सताते हैं तो एक दिन ऐसा आयेगा, जब आपसे शक्तिशाली व्यक्ति आपको पीसेगा, दुखी करेगा और अनुचित लाभ उठानेका प्रयत्न करेगा। अथर्ववेदमें कहा गया है—

मा ते हृदयमर्षियम्
'किसीका दिल न दुखाओ।'
उप प्रयन्तो अध्वरम् (ऋ० १।७४।१)

हम यज्ञका सम्यक् अनुष्ठान करते हुए (अग्निदेवके लिये स्तोत्ररूप मन्त्रका पाठ करें)

वह कार्य करो, जिससे दूसरोंको कष्ट न हो। उन मानसिक पापोंसे सदा बचते रहो, जिनसे दूसरोंको कष्ट पहुँचता है और शत्रुता बढ़ती है।

शत्रुता, ईर्ष्या और द्वेषके कुविचारोंको दूरकर मनमें शान्ति और संतुलन बनाये रखनेका साधन मैत्रीभावका दीर्घकालीन अभ्यास है। मैत्रीभावका अर्थ है यह मान लेना कि मेरा कोई शत्रु नहीं है। मेरी सबसे मित्रता है। मैं सबको मित्रभावसे ही देखता हूँ। मित्रताका ही व्यवहार करता हूँ। चारो ओर मेरे मित्र-ही-मित्र हैं। मैत्रीभाव रखनेवाला मनमें यह सोचता है—

'मैं सबका मित्र हूँ। सब मेरे मित्र और हितैषी हैं। मेरा कोई भी अहित करनेवाला नहीं है। मैं किसीका कुछ बिगाड़नेका भाव कभी मनमें नहीं रखता। मैत्रीभाब रखनेसे अब मेरे मनमें न कोई घबराहट है, न मानसिक या शारीरिक क्लेश या दुःख-दर्द।

जिस तरह परम सत्तासे सारे कार्यव्यापार चलते हैं, उसी तरह इस परम पुनीत मैत्रीभावसे मेरा मानसिक जगत् संचालित होता है। मैत्रीके मेघ बरसते हैं, प्यार और सौहार्दकी फसलें उगती हैं। इसी भव्य विचारसे मेरा रक्तसंचार होता है, विचार स्फुरित होते हैं। मेरा सारा जीवन मैत्रीसे ओतप्रोत है।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।

(योगसूत्र १। ३३)

महर्षि पतञ्जलिके 'योगसूत्र' में चार प्रकारकी भावनाएँ मनमें रखनेसे कल्याण होना माना गया है। ये भावनाएँ ही संसारमें विनाशकारी विचारोंपर विजय देकर सर्वत्र शान्ति स्थापित करनेवाली हैं। ये चारो इस प्रकार हैं—

१-मैत्री-भावना—अर्थात् प्राणिमात्रके लिये सत्, प्रेममय और हितकारी भावना रखना—सबसे प्रेम, सौहार्द और मित्रताका भाव। २—करुणा-भावना अर्थात् संसारके पीडित जन-समुदायके प्रति हार्दिक सहानुभूति रखना। ३—मुदिता अर्थात् सुखी वर्गके सुखमें अपने सुखको लय कर देना। ४—उपेक्षाभाव—प्रतिकूल मन या विचारवालोंके झंझटों या भ्रान्तिमें न फँसना।

यदि विराट् दृष्टिसे देखा जाय तो उपर्युक्त चारो प्रकारकी भावनाएँ एक मैत्री-भावनामें ही आ जाती हैं। एक मैत्रीभावसे टकराकर सब शत्रुताएँ, तनाव, खिंचाव, रंजिश समाप्त हो जाती हैं।

महर्षि पतञ्जलिका तात्पर्य है कि मनुष्य यदि किसी पुरुषको सुखी देखे तो उसके प्रति मित्रताका भाव करे। यदि किसीको दुःखसे पीड़ित पाये तो उसे अपनी करुणा (सहानुभूति) प्रदान करे। यदि पुण्यवान्को देखे तो प्रसन्न हो और यदि उद्दण्ड पापीको देखे तो उसके प्रति उपेक्षा करे अर्थात् उससे तटस्थ रहे। इन चारो भावनाओंका अभ्यास करनेसे चित्तका उद्वेग नष्ट होता है।

यदि आप अपनेसे ऊँचे, प्रतिष्ठित, समृद्धिशील व्यक्तिसे मैत्रीभाव रखेंगे तो चित्तमें ईर्ष्याकी अग्नि प्रज्वलित नहीं होगी। दुखी व्यक्तिके प्रति प्रेम-भाव प्रदर्शित करनेसे उसकी क्रूरता एवं स्वार्थपरताकी बुरी आदत छूट जाती है।

हमारा निरन्तर ऐसा प्रयत्न होना चाहिये कि मैत्रीभावना विकसित होती रहे। जितने व्यक्तियोंसे भी हमें मिलनेका और मित्रताका हाथ बढ़ानेका अवसर मिले, उतना ही श्रेष्ठ है। जिस व्यक्तिके अनेक मित्र हैं, जिसकी आत्मीयताका जितना बड़ा दायरा है, वह उतना ही प्रसन्न है। वह उतने ही अच्छे मानसिक स्वास्थ्यका आनन्द उपभोग करता है। अपने जीवन-चरित्र और व्यवहारमें मृदुता धारण कीजिये।

कब आओगे ?

मुरझि रहे हैं भावनाके वास हीन फूल,
कब निज सरस सुगंधिन सों छाइहौ।
करि कै अनुग्रह दरस आस पूरि कब,
आरती अरघ आदि सफल बनाइहौ।
'राजहंस' सुन्दर सुरूप छबि छाय कब,
मंजु मौन सुखद संगीत सरसाइहौ।
रस बरसाइहौ, मढ़ाइहौ अमंद मोद,
स्याम ! कब रीते मन मंदिरमें आइहौ॥

—बलदेवप्रसाद मिश्र

अपने विचारको शुद्ध कीजिये

(लेखक—स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज)

मनुष्य जैसा विचार करता रहता है, वैसा ही बन जाता है; क्योंकि विचार एक सजीव शक्ति है। इसका प्रभाव अवश्य ही पड़कर रहता है। अतएव अपने विचारका सदैव निरीक्षण करते रहिये। कहीं अशुद्ध विचार मनमें प्रवेश न कर जाय।

जैसा आपका विचार होगा, आपके शारीरिक विद्युत्के प्रमाण आपके चारो ओर वैसा ही मण्डल बना लेगा। क्या कारण है कि संत-महात्माओंके सङ्गकी इतनी महिमा गायी जाती है। उनके निवास-स्थानोंपर पहुँचते ही हृदयमें शान्तिकी लहरें उठने लगती हैं।

जो मनुष्य अपनेको दीन, हीन, मलिन और अयोग्य समझता है, वह वैसा ही बनकर रह जाता है।

जो अपनेको निराश, भीरु और श्रान्त अनुभव करता है, वह वैसा ही होकर रहता है।

फलतः ऐसे मनुष्यके जीवनमें शान्ति कहाँ ? वह तो निरन्तर अशान्तिके सागरमें ही डूबता रहता है।

यदि आप मानव-जीवनके आनन्दको लूटना चाहते हैं तो निराशाका परित्याग कर दीजिये। दयालु परमेश्वर-पर पूर्ण विश्वास कीजिये और निरन्तर दृढ निश्चय कीजिये कि भयहारी भगवान्के वरद कर-कमल आपके मस्तकपर स्थित हैं, आप शान्ति और चिर-सुखका अनुभव कर रहे हैं। भगवान् तो अपने भक्तोंकी इच्छाको इच्छा करनेके पूर्व ही पूरी कर देते हैं।

भगवान्ने जिस भक्तके मस्तकपर अपना वरद कर-कमल रख दिया, उसका पाप-ताप और माया—सब मिट जाती है और वह सदाके लिये अभय हो जाता है। इसीलिये तो संत-शिरोमणि श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

सीतल सुखद छाँह जेहि कर की मेटति पाप ताप माया।
निसि बासर तेहि कर सरोज की चाहत तुलसिदास छाया॥

आप निरन्तर अपनेको भगवान्के निकट ही अनुभव कीजिये। वे जितने निकट हैं, उतने निकटपर तो आप-का अपना अङ्ग भी नहीं है। सच्ची बात तो यह है कि आप भगवान्में हैं और भगवान् आपमें।

आप निरन्तर अनुभव करते रहिये कि आप भगवान्के हैं और भगवान् आपके। एक संत महोदय 'साधन-पञ्चामृत'के नामसे पाँच बातें सुनाया करते हैं—

(१) मैं भगवान्का हूँ।

(२) मैं भगवान्के दरबारमें रहता हूँ।

(३) मैं भगवान्का ही प्रसाद भोजन करता हूँ।

(४) मैं भगवान्की ही सेवा करता हूँ।

(५) मैं भगवान्की दी हुई वस्तुओंसे ही नर-नारायण अथवा विश्वरूप भगवान्की सेवा करता हूँ।

कितनी सुन्दर बातें हैं! मुझे तो बहुत ही पसंद है यह पञ्चामृत।

मैं पूर्ण आरोग्य हूँ, शान्त हूँ और सफलता देवी मेरे पीछे-पीछे है।

मैं निश्चिन्त और निर्भीक हूँ; क्योंकि परम प्रभु मेरे साथ हैं।

सभी जीव-जन्तु मुझे सुख प्रदान कर रहे हैं। किसीसे भी मुझे दुःख नहीं है।

इस व्यक्त संसारके रूपमें मैं उस परम प्रभुकी मुनि-मनमोहिनी मधुर मनोहर मूर्तिके दर्शन कर रहा हूँ और उनको मानसिक प्रणाम करता हूँ। भगवान्की असीम कृपासे मैं समृद्धिशाली हूँ। मैं पूर्णकाम तथा आत्माराम हूँ।

मेरे योगक्षेमका वहन तो वे ही विश्वम्भर कर रहे हैं। मेरी सभी आवश्यकताएँ उनकी कृपासे पूरी हो जाती हैं।

भगवान् मेरे हृदयमें हैं, अतः मैं उनकी शक्तिको पाकर सब कुछ करनेमें समर्थ हूँ। सभी सद्गुण, सदाचार मुझमें भरे पड़े हैं। ऐसा निश्चय करते रहें।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

आदर्श अंग्रेज-चरित्र

सन् १९२४ की बात है, मेरे सहपाठी श्रीनरुलाजी, जो आजकल नागपुर साइंस कालेजमें उपप्रिंसिपलके पदपर नियुक्त हैं, उच्चशिक्षाके लिये विलायत गये थे। वहाँसे तीन साल पश्चात् पी-एच्० डी० की उपाधि लेकर वापिस भारतवर्षमें आये। इन्होंने अपनी जबानी अंग्रेज-चरित्रकी महानताका जो वर्णन किया था, वह मैं उपस्थित करता हूँ। उन्होंने बतलाया था कि वे लंदनके एक घरमें पेइंग गेस्टकी हैसियतसे ठहरे। वहाँपर और व्यक्तियोंके अतिरिक्त मेट्रनकी एक तरुण लड़की थी, जो वहाँ किसी दुकानपर 'सेल्स गर्ल' का काम करती थी। इधर इनको विज्ञानमें पी-एच्० डी० करना था, इसलिये इन्हें लैबरेटरीमें बहुत काम करना पड़ता था। ये जेबमें डबल रोटी ले जाया करते थे और भूख लगनेपर वही खा लेते थे। एक दिन दोनोको सायंकाल अवकाश था; इसलिये प्रातःकाल यह विचार निश्चित हुआ कि आज सायंकालको सिनेमा जायँगे। फिर मिलनेका स्थान निश्चित हो गया। प्रभुकी लीला विचित्र है। निश्चित समयसे दो घंटे पूर्व बड़े जोरकी वर्षा प्रारम्भ हो गयी। जब इन्होंने लैबरेटरीसे बाहर निकलकर देखा तो हिम्मत नहीं पड़ी कि ऐसी वर्षामें वहाँसे निकला जा सके। ये वहीं ठहरे रहे, परंतु वह लड़की वर्षाकी परवा न करके निश्चित समयपर नियत स्थानपर पहुँच गयी और मूसलाधार वर्षामें बिना छाते या रेन-कोटके खड़ी भीगती रही। इधर जब वर्षा बंद हुई, तब ये भी उस ओर जा निकले। उसे पानीसे भीगी हुई तथा सर्दीसे काँपती हुई देख उनके मुखसे निकला—'ओह! आप यहाँ हैं? (Oh, you are here?)' उसने काँपते हुए होठोंसे कहा—मुझे तो यहीं रहना चाहिये था (I was supposed to be here)। इतना कहा और उसके होठ बंद हो गये; उसने इनसे यह शिकायत नहीं की कि तुम समयपर क्यों नहीं पहुँच सके। परंतु उसके शब्द इनको ऐसे लगे जैसे किसीने भालेसे मर्मस्थानको बींध डाला हो। इनका सिर 'अंग्रेज-चरित्र' के आगे नत हो गया।

इन्होंने फिर बतलाया कि "समय व्यतीत होनेपर वह दिन निकट आ गया जब कि मुझे अपना थीसिस दाखिल करना था। परंतु समयके अभावसे मुझे बहुत कष्ट हो रहा था कि अब क्या किया जाय; इतनी जल्दी मेरे लिये लिखना असम्भव था। मैं इसी चिन्तामें डूबा था कि वही लड़की जिसके साथ मेरा भाई-बहिन-जैसा शुद्ध प्रेमका सम्बन्ध था, मुझसे पूछने लगी कि 'आज आप उदास क्यों हैं?' मैंने कहा कि 'एक ही दिनमें मुझे थीसिस दाखिल करना है और मुझमें साहस नहीं कि मैं इतनी जल्दी इस सुलेखको लिख सकूँ। यदि यह तिथि निकल गयी तो फिर छः महीने और प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। इसलिये मैं विवश हुआ सो नहीं पा रहा हूँ।' बिना रुके उसने झट कहा—'आप इसके लिये जरा भी चिन्ता न करें; मैं टाइप बहुत अच्छा जानती हूँ और मेरी स्पीड प्रति मिनट ८० शब्दकी है। मैं सारा थीसिस टाइप कर दूँगी।' मैंने प्रसन्नताकी श्वास ली और थीसिस उसके हवाले कर दिया। पहले तो एक-दो घंटे मैं उसकी सहायता करता रहा, परंतु फिर निद्राने मुझे विवश कर दिया। मैं सो गया। परंतु वह देवी सारी रात्रि टाइपपर जुटी रही। जब प्रातःकाल सात बजे मैं उठा, तब मैंने देखा कि वह लगी हुई है

और सर्दीसे उसकी अंगुलियोंसे रक्त बह रहा है। वह थीसिस समाप्त कर ही चुकी थी, मैंने उसका साहस देखकर उसकी प्रशंसा की। परंतु उसने कहा कि 'इसमें कौन-सी बड़ी बात हुई, यह तो मेरा कर्तव्य ही था कि इस संकटमें मैं आपकी थोड़ी-बहुत सहायता करती।' धन्य हैं ऐसे मनुष्य—जो अपने सुखकी जरा भी परवा न करके दूसरेके हितके लिये अपने-आपको अर्पण कर देते हैं। धन्य है उनका चरित्र जो बिना किसी लालचके तथा बिना किसी आर्थिक लाभके इस प्रकार सेवा करते हैं।

—योगेन्द्रराज भण्डारी

(२)

दयाके सागर विद्यासागर

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर अपने मित्र श्रीगिरीशचन्द्र विद्यारत्नके साथ बंगालके कालना नामक गाँव जा रहे थे। रास्तेमें उनकी नजर एक लेटे हुए मजदूरपर पड़ी, जिसे हैजा हो गया था। उसकी भारी गठरी एक ओर लुढ़की पड़ी थी। उसके मैले कपड़ोंसे बदबू आ रही थी। लोग उसकी ओरसे मुख फेरकर जल्दी-जल्दी चले जा रहे थे। मजदूर बेचारा उठनेमें भी असमर्थ था। विद्यासागर तो दयासागर थे; उनके मित्र भी उनसे पीछे क्यों हटते ? उन्होंने मजदूरको अपनी पीठपर बैठाया और उनके मित्रने मजदूरकी गठरीको सिरपर रक्खा और उसे लेकर वे कालना पहुँचे। मजदूरकी वहाँ उन्होंने चिकित्सा करायी। जब वह अच्छा हो गया, तब उसे कुछ पैसे देकर घर भेज दिया। (पराग)

(३)

सभी मनुष्योंसे प्रेम

शिशु बाबूका नाम न केवल उनके जन्म-स्थानमें ही आदरके साथ लिया जाता था, बल्कि आस-पासके इलाकेमें दूर-दूरतक वे प्रसिद्ध थे। वे बहुत धनी थे, किंतु उनका नाम धनके कारण नहीं था। उनके हृदयमें मनुष्यमात्रके लिये लबालब प्रेम भरा था।

एक दिन शामको उनका एक नौकर उनकी बैठकमें दिया जला रहा था। ऐसा करनेमें एक कीमती झाड़फानूस उसकी लापरवाहीसे फर्शपर गिरकर चकनाचूर हो गया। नौकरकी तो डरके मारे मानो जान ही निकल गयी। उधर घरका मैनेजर भी यह घटना देख रहा था। उसने आव देखा न ताव, उस गरीब नौकरके ऊपर वह बरस पड़ा। चिल्लानेके साथ-साथ उस डरे हुए बेजान नौकरपर उसने लातों और घूँसोंके वार करने शुरू कर दिये। इतने जोरसे उसे मारना शुरू किया कि वह चोटोंके मारे चिल्लाने लगा।

शिशु बाबूने यह चिल्लाना सुना, तो वे झपटकर ऊपर गये। उन्हें देखकर मैनेजरने नौकरको छोड़ दिया और वह अदबसे अलग हटकर खड़ा हो गया। शिशु बाबूने उस नौकरको कंधा पकड़कर उठाया और बाहोंमें भर लिया। वह उनकी छातीपर सिर रखकर इस प्रकार रोने लगा, जैसे कोई बेटा बापकी छातीपर अपने सारे दुःख उँड़ेल देता है। इसी हालतमें कुछ समय गुजर गया।

इसके बाद शिशु बाबूने तेज नजरोंसे अपने मैनेजरकी ओर देखकर कहा—'महाशय, मैं आपके इस कामको सख्त नापसंद करता हूँ, इस बातकी गाँठ बाँध लीजिये। बताइये, आखिर क्या किया था इस आदमीने ?'

मैनेजरने सारी बात बता दी। इसपर शिशु बाबू बोले—निश्चय ही यह दुर्घटना थी और हममेंसे किसीके द्वारा घट सकती थी। देखते नहीं, जो कुछ हुआ है, उसका इस आदमीको स्वयं कितना दुःख है ? तुमने जो काम किया है, वह बहुत ही नीचे दर्जेका है।

शिशु बाबूके सारे नौकर अपने स्वामीको इसी कारण बहुत चाहते थे।

—वल्लभदास बिन्नानी

(४)

ईमानदार ताँगेवाला

घटना पुरानी नहीं है। मेरी छोटी बहिनकी शादी थी। बतीसीमें[1] गङ्गाशहर जाना था, साथमें अन्य औरतें भी थीं। गङ्गाशहर बीकानेरसे तीन मील दूर है, इसलिये किरायेके ताँगे किये गये और सब लोग ताँगेपर सवार होकर गङ्गाशहर गये। रास्तेमें मेरी चाचीजीके हाथमें पहना हुआ एक भुजबंद[2] ताँगेमें दोनों सीटोंके बीचके छेदमें गिर गया। उस समय उनको माल्म नहीं हुआ। गङ्गाशहर आनेपर सब लोग ताँगोंसे उतरे और ताँगेवालोंको किराया चुका दिया गया। ताँगेवाले सब चले गये।

हम सब ताँगोंसे उतरे और बतीसी लेकर माताजीके पीहर गये। वहाँ आदर-सत्कारके बाद जब टीकेका काम चालू हुआ, उस समय मेरी चाचीजीकी दृष्टि अनायास ही हाथकी ओर गयी और तब उन्होंने देखा कि भुजबंद नहीं है। भुजबंदकी कीमत लगभग १५००) रुपये थी। खलबली मच गयी। चाचीजीको पूछे जानेपर उन्होंने कहा कि 'मैं ताँगेपर सवार हुई थी, उस समय मेरे भुजबंद हाथमें था और यहाँ कहीं गिरा नहीं है, हो न हो ताँगेमें गिरा है।' ताँगेवालेको कोई पहचानता नहीं था।

इतनेमें ताँगेवाला आया और उसने भुजबंद देते हुए कहा—'जब मैं अपने घर गया और जब मैंने घोड़ेको दाना-पानी देनेके लिये खोला तथा ताँगेको साफ करते समय इसको देखा, तब मैंने समझा कि यह भुजबंद तो आपका ही हो सकता है; क्योंकि आज मैं पहले-पहल आपके ही किरायेपर आया था। मैंने सोचा आपलोग बहुत चिन्तित होंगे, इससे मैं तुरंत ताँगा जोड़कर भुजबंद देने चला आया। आप इसे सँभाल लीजिये।'

हम सब लोग प्रसन्न हो गये और ताँगेवालेकी ईमानदारीकी प्रशंसा करने लगे। मेरे भाईसाहबने उसे ५०) इनामके देने चाहे, किंतु उसने नहीं लिये और कहा कि 'मैं ईमानको सोने-चाँदीके टुकड़ोंपर नहीं बेच सकता। मैं भुजबंद इसलिये नहीं लाया कि आप मुझे इनाम दें। मैं भगवान्‌को चारो ओर देखता हूँ। मुझे डर लगता है कि यदि मैं बेईमान हो गया तो भगवान्‌के न्याय-दरबारमें क्या उत्तर दूँगा।'

बहुत कहने-समझानेपर भी उसने इनाम नहीं लिया और सबको ईमानदारीका जीता-जागता सबक देकर ताँगेपर सवार होकर चल दिया।

1. राजस्थानमें जब लड़के या लड़कीका विवाह होता है, तब लड़के या लड़कीकी माँ अपने भाईके यहाँ (पीहर) जाकर भाईके तिलक लगाती है और बादमें भाई भात या माहेरा भरता है। इस तिलककी प्रथाको बतीसी कहते हैं।

2. भुजबंद—औरतोंके हाथमें पहननेका एक सोने और मोतियोंका बना गहना।

(५)

सहृदयता

एक बार गोंडलनरेश स्व० श्रीभगवतसिंहजी और उनके कुअँर श्रीभोजराज मोटरमें किसी दूरके गाँव जा रहे थे। रास्तेमें एक जगह मोटर रुक गयी। दोनो नीचे उतरकर इधर-उधर टहलने लगे। बिल्कुल सादी पोशाक थी, जल्दी कोई पहचान भी नहीं सकता था। पास ही एक बुढ़िया थेपड़ीका टोकरा भरे खड़ी थी। उसने समझा कोई किसान है और आवाज दी—'अरे भाई! जरा यह टोकरा मेरे सिर तो उठा दो।' श्रीभगवतसिंहजीने भोजराजसे कहा—'जरा सहारा लगा आओ।' उसके बाद तो उन्होंने वहाँ थोड़ी-थोड़ी दूरपर ऐसे थामले बनवा दिये कि कोई भी अकेली स्त्री उनपर अपना बोझा रखकर अपने आप ही सिरपर ले लेती।

—जेठालाल कानजी भाई शाह

(६)

भगवान् देना चाहते हैं तो छप्पर फाड़ कर देते हैं

बात सन् १९४९ की है (मास और दिवस मुझे स्मरण नहीं) । उस समय मैं बीकानेर स्टेशनपर डिप्टी स्टेशनमास्टरके पदपर नियुक्त था ? अप गाड़ी (संध्याके समय) बीकानेर रेलवे-स्टेशनसे चलनेवाली थी । मैं ड्यूटीपर प्लेटफॉर्मपर खड़ा था । इतनेमें मेरे एक घनिष्ठ मित्र पं० श्रीदुर्गाप्रसाद, जो उन दिनों रेलवे ऑफिसमें क्लर्क थे और अब भी हैं; मेरे पास चले आये । वहाँ मेरी उनकी विनोद-वार्ता होने लगी। बातों-ही-बातोंमें मेरे मुँहसे निकल पड़ा 'भगवान् देना चाहते हैं तो छप्पर फाड़कर देते हैं ।' मेरी इस बातकी हँसी उड़ाते हुए उन्होंने भी विनोदमें ही कहा कि हम तो तुम्हारे भगवान्को तब जानें, जब वे तुम्हें कहींसे अनपेक्षित पचास रुपये भेज दें । मैंने अपने उसी विश्वासपूर्णभावसे उत्तर दिया 'भगवान् चाहें तो कुछ भी असम्भव नहीं है ।' उन्होंने मेरे इस उत्तरको उपेक्षाकी मुद्रासे सुना-अनसुना कर दिया । मैं भी गाड़ीको विदा करनेके कार्यमें संलग्न हो गया ।

इधर भगवान्की अहैतुकी कृपाने तुरंत ही मेरे इस विश्वासको साकार रूप दिया । सन् १९३८-३९ में मैं लूनकरनसर स्टेशनपर स्टेशनमास्टर रहा था । उस बीचमें मैंने वहाँके गण्यमान सेठ नथमलजी बोथराके पुत्रको प्रायः दो मासतक अँग्रेजी पढ़ायी थी । परंतु न तो मैंने उनसे कुछ शुल्क माँगा था, न मेरी ऐसी अभिलाषा ही थी । मैं तो प्रारम्भसे ही केवल स्वभावेन अपना जीवन-लक्ष्य बनाकर जो कुछ मैं जानता हूँ उसके अनुसार किसी भी व्यक्तिको रेलवेका काम सिखाने तथा अंग्रेजी 'विषय' समझानेको प्रस्तुत रहता आया हूँ । अस्तु, उक्त सेठ साहब मेरी और श्रीदुर्गाप्रसादजीकी बातचीतके दो ही मिनट पश्चात् अनायास ही कहींसे मेरे सामने आ खड़े हुए । मानो भगवान्ने ही मेरी उस विश्वासभावनाको सत्य प्रमाणित करनेके लिये उनको भेजा था । वे बोले—'बाबूजी ! मेरा आपका कुछ हिसाब है ।' यह सुनकर मैं अवाक्-सा रह गया । लूनकरनसर छोड़े मुझे दस वर्ष हो चुके थे । उनके पुत्रको पढ़ानेकी बातका तो मुझे स्मरण भी न रहा था । मैं तो उल्टे यह समझने लगा कि कहीं ये यह न कह दें कि 'मैं तुमसे कुछ रुपये माँगता हूँ ।' मैंने उसी आश्चर्य मुद्रासे पूछा—'कैसा हिसाब सेठ साहब ! क्या आप मुझसे कुछ माँगते हैं ?' उन्होंने हँसते हुए उत्तर दिया—'नहीं बाबूजी ! नहीं । मुझे तो आपको कुछ रुपये देने हैं ।' यह कहते हुए उन्होंने मेरे हाथपर ५०) रुपयेके नोठ रख दिये और कहा—'आपने मेरे लड़केको पढ़ाया था, उसका शुल्क है ।' मैंने कुछ आनाकानी की; परंतु वे बोले 'यह तो आपकी मेहनतका है, आपको लेना ही पड़ेगा ।' मैंने रुपये ले लिये और श्रीदुर्गाप्रसाद, जो कुछ ही दूरीपर वहीं खड़े थे, भगवान्के इस चमत्कारको देखकर चकित हो गये !

—लक्ष्मणप्रसाद विजयवर्गीय

(७)

'दान करना धर्म नहीं'

पचास-पचपन वर्षकी पुरानी बात है । कलकत्तेमें एक सेठ रहते थे । नाम उनका याद नहीं रहा । उनसे जब कोई मिलता, तब वे यही कहते कि 'दान करना धर्म नहीं ।' यह एक अनोखी कहावत तो थी, पर इससे भी ज्यादा अनोखी बात यह थी कि जो कंजूस सेठ उनके मुँहसे यह कहावत सुनता, वह सुननेके बाद तुरंत दानी बन जाता । जैसे ही लोगोंको इस अनोखी बातका पता चला, तो उन्हें यह जाननेकी इच्छा हो उठी कि आखिर यह सेठ किस तरह कानमें इस 'दान करनेसे धर्म नहीं होगा' मन्त्रको फूँकते हैं

कि हमेशाके कंजूस सेठ दानी बन जाते हैं! कई दानी बने कंजूस सेठोंसे मन्त्र जाननेके लिये पूछताछ भी की गयी, पर परिणाम कुछ न हुआ।

पाठक यह तो नोट कर ही लें कि वे सेठ कहते तो यही थे कि दान करनेसे धर्म नहीं होता, पर खूब दान करते थे। वे अपने सिद्धान्तके पूरे विश्वासी हैं, इसका सबूत सिर्फ इस बातसे मिलता था कि वे अपने दानकी बात कभी मुँहपर नहीं लाते थे और दानी होनेके नाते कभी किसी तरहका अभिमान नहीं जताते थे। दान देनेमें न हिचर-मिचर करते थे और अगर किसीको नहीं देना होता था तो इन्कार करनेमें भी जरा नहीं झिझकते थे। खुलासा यह कि उनके दान करनेका ढंग दूसरे दानियोंसे एकदम निराला था। कलकत्तेके अनाथालयको सैकड़ों नहीं, हर महीने हजारोंका दान करते थे। एक तरहसे अनाथालयके आर्थिक प्राण वे ही थे। पर अनाथालयकी प्रबन्ध-समितिपर किसी भी हैसियतसे कहीं भी उनका नाम न था। अनाथालयके प्रबन्धमें कभी किसीने इन्हें दखल देते नहीं देखा। प्रबन्धकर्ताओंने इस तरहकी कभी कोई शिकायत भी नहीं की।

'दान करना धर्म नहीं है,' यह कहावत ऐसे आदमीको शोभा देती है, पर इतनेसे तो हम सबकी तसल्ली नहीं हो सकती और न पाठकोंकी ही तसल्ली हो सकती है। तब यह सवाल होता है कि आगे बात किस तरह बढ़े!

हाँ, तो हुआ यह कि एक दिन एक मनचला आदमी उनके पास पहुँच ही तो गया और एकदम कह बैठा, 'देखिये सेठजी, मैं आपसे यह सुननेके लिये नहीं आया कि दान करना धर्म नहीं है; क्योंकि मुझे यह अच्छी तरह माळूम है कि आप खूब दान करते हैं और यह भी पता है कि सचमुच दान करनेको धर्म नहीं मानते; क्योंकि दानियोंमें जो कमियाँ होती हैं, वे आपमें नहीं पायी जातीं। मैं तो सिर्फ यह पूछने आया हूँ कि अगर दान करना धर्म नहीं है तो क्या है? और आप क्यों दान करते हैं? और फिर यह सवाल तो है ही कि धर्म क्या है?'

सेठजी गम्भीरमुख होकर बोले, 'दान करना एक आवश्यकता है, और धर्म है हाथ-पाँवसे दूसरोंकी सेवा करना।'

सेठजी इतना कहकर चुप हो गये और अपने काममें लग गये। मानो वे सब कुछ कह चुके।

उसके बाद आगन्तुक हिम्मत करके पूछ ही तो बैठा, 'यह आवश्यकता कैसी? मैं ठीक-ठीक नहीं समझा।'

सेठजी काम करते-करते कह गये, 'आवश्यकता ऐसी, जैसे खाना-पीना, टट्टी-पेशाब जाना, जैसे साँस लेना और बाहर निकालना'—और बस चुप हो गये। वह आगन्तुक सेठजीसे आगे कुछ न पूछ सका और अपना-सा मुँह लेकर लौट पड़ा। सुनते हैं, जब वह फाटकसे बाहर होने लगा, तब सेठजीकी हवेलीके चौकीदार आपसमें बातें कर रहे थे कि 'अजब खब्ती सेठ है। रोज अनाथालय जाता है और अपने हाथों छोटे-छोटे बच्चोंके टट्टी-पेशाबके कपड़े धोता है। इसकी कंजूसीका कोई ठिकाना है? यह नहीं करता कि वहाँ एक धोबी लगा दे और वहाँ एक मेहतर रख दे।' दूसरा चौकीदार कह रहा था, 'अरे हाँ, धर्मात्मा बनता है, न कभी मन्दिर जाता है, न हवन-पूजा करता? नरक जायगा, नरक!'

[दान करना धर्म नहीं होता, इसका कैसा दिलचस्प सार है यह! कितना अच्छा हो कि इसे लोग समझें और अपने पासकी उन चीजोंका कर्तव्यभावसे दान कर दें जिनपर वे अनावश्यक स्वामित्व जमाये बैठे हैं—]

'भूदानयज्ञ'से साभार — महात्मा भगवानदीन

(८)

विपत्ति-हरण

'हम बारातमें सवा सौ व्यक्तियोंसे कम नहीं ला सकते ?' भावी समधीके इन शब्दोंके साथ ही चिन्ताकी अमिट रेखाएँ मेरी मुखाकृतिपर अङ्कित हो उठीं; परंतु विवशता मेरे साथ थी। प्रभु-स्मरणके साथ ही जहरका घूँट पीते हुए, एक साथ उमड़ पड़नेवाले आँसुओंको रोकते हुए कहना पड़ा, 'अच्छा साहब' और विवाह-तिथि तय हो गयी।

समयानुसार मैं केवल २५ व्यक्तियोंके पक्षमें था, यद्यपि मेरी स्थिति इतनोंको भी केवल एक समय अल्पाहारमें ही निबटा देने मात्रकी थी; परंतु सामाजिक कीड़ा होनेके नाते समाजका यह आग्रह मुझपर था।

'अच्छा' कह चुकनेके बाद अब चिन्ता थी व्यवस्थाकी। जिन व्यक्तियोंको मैं अपना समझे बैठा था और मुझे जिनपर दृढ़ विश्वास भी था, मैंने उनको स्थितिसे पूर्णतया अवगत करा दिया। कुछ मुझपर हँसे, कुछने बेवकूफ बताया, कुछेकने सहानुभूति भी दिखलायी; पर सबका संक्षिप्त उत्तर था, "है ही नहीं, भाई, क्षमा करें।"

ज्यों-ज्यों समय निकटतम होता जाता था, मैं सूखा जाता था। प्रश्न था सामाजिक इज्जतका; पर कहीं भी आशा-रश्मितक दृष्टि-गोचर नहीं हो पा रही थी; सारांश 'प्रभु-स्मरण'के अतिरिक्त अब और कोई साधन अवशेष नहीं रह गया था।

मैं अपनी 'ड्यूटी'पर जा रहा था; बसमें बैठा यही सोच रहा था कि वहाँ जाकर लिख दूँगा, 'बहिनकी शादी अभी छुट्टियाँ न मिल सकनेके कारण नहीं कर सकूँगा' इन्हीं विचारोंको दृढ़कर पुनः प्रभु-चिन्तनमें मग्न हो गया !

अकस्मात् बस नसीराबाद स्टैंडपर रुकी; मैं गाड़ीसे उतर पड़ा। उतरते ही मेरे पूर्वके प्र० अ० श्रीगोवर्द्धनसिंहजी मेरी ओर ही आये। उनके पास आते ही उचित शिष्टाचार भी न हो सका कि आँखें स्वतः टप-टप बरसने लगीं; यह दृश्य देखकर वे भी स्तम्भित-से रह गये। आखिर मैंने सब बातें उनसे बतायीं, यद्यपि मेरी-जैसी ही उनकी स्थिति होनेके कारण मुझे शङ्का बराबर होती जा रही थी। मेरी बात समाप्त होते ही उन्होंने मेरे हाथपर.......सौंप दिये और आप स्वयं न जाने कहाँके लिये और किस कामके लिये बसपर चढ़ गये, मैं अवाक् रह गया। चढ़नेके बाद उन्होंने हाथ हिलाया, तब उनके मोती भी आँखोंसे बाहर निकल चुके थे। मैंने नीचा मस्तक किये ही उनमें साक्षात् विपत्ति-हरण 'गोवर्द्धन-धारी'के दर्शन किये। कुछ साहस बँधा, फिर जहाँ कहीं जानेका साहस करता, स्वतः उस गोवर्द्धन-धारीका स्वरूप हृदयके अन्तरङ्गमें दिग्दर्शित हो उठता, तब फिर किसीने 'नहीं' नहीं किया; फलतः शादी सकुशल सम्पन्न हो गयी।

मेरे हृदय-पटलपर वह विपत्ति-हरण गोवर्द्धन-धारी अब भी ज्यों-के-त्यों अङ्कित हैं।—महाप्रभु गोवर्द्धन-धारीकी जय।

—जौहरीलाल जैन

(९)

मनुष्यका कर्तव्य

कुछ समय पहलेकी बात है, मैं और मेरे एक पारसी मित्र साइकलद्वारा दिल्लीकी सैर करने गये थे। इन्दौरमें दीवाली मनायी और नये वर्षके दिन प्रातःकाल ही इन्दौरसे निकले। इन्दौरसे ग्यारह मील आगे गये थे कि मेरे मित्रकी साइकलमें पंक्चर हो गया। हमलोग एक ओर बैठकर साइकल ठीक करने लगे। पर कौन जानता था कि आध घंटेका काम दो घंटेमें भी पूरा नहीं होगा। आस-पास कोई गाँव भी नहीं था कि कहींसे मदद मिल सके। इतनेमें एक भड़कीली मोटर हमारे पाससे निकली और पूरी चालसे आगे बढ़ गयी।

थोड़ी दूर जाकर ही मोटर रुकी। हमारा ध्यान उस तरफ गया। हमने सोचा, मोटरमें कुछ बिगड़ा होगा। इतनेमें तो मोटर वापस घूमी और हमारे पास आकर ठहर गयी।

मोटरमेंसे एक गोरे साहब उतरे और 'मैं आपकी कुछ मदद कर सकता हूँ?' यों अंग्रेजीमें कहते हुए हमारे पास आ गये। हमने अपनी कठिनाई उनको बतलायी और वे हमारी मदद करने लगे। पंद्रह मिनटमें साइकल ठीक हो गयी।

वे दिल्लीकी प्रदर्शनी देखकर सकुटुम्ब बम्बई जा रहे थे। साइकल ठीक न होनेपर वे हमलोगोंको वापस इन्दौर पहुँचानेको तैयार थे, यह उन्होंने बताया। हमारे बार-बार मना करनेपर भी जाते समय उनकी पत्नी हमें एक दर्जन केले दे गयीं।

हमने उनका उपकार माना; तब उन्होंने जो शब्द कहे, वे हमारे मनमें अब भी रम रहे हैं—'यह मनुष्यका कर्तव्य है।' —अब्बास अहमदाबादी

सहारा दो

(रचयिता—श्रीगोविन्दजी, एम्० ए०, बी० एस्-सी०)

पंथ हारा हूँ, मुझे क्षणभर सहारा दो।
प्रभो ! क्षणभर सहारा दो॥
वासनाओंके तिमिरमें मैं स्वयंको खो चुका हूँ,
कल्पनाओंके जलधिमें रूप तेरा धो चुका हूँ,
पंथ भूले पाँवको तुम ज्योति-तारा दो।
प्रभो ! क्षणभर सहारा दो॥
सिन्धुका विस्तार अपनी नील सीमामें गरजता,
डगमगाती क्षुद्र नौकाके लिये हरदम मचलता,
डूबते मस्तूलको तुम बस, किनारा दो।
प्रभो ! क्षणभर सहारा दो॥
बन गये तूफान मेरे पंथके साथी मधुरतर,
बुझ रहे वे दीप, जो जलते हृदयमें साँस भरकर,
टिमटिमाती रोशनीको स्नेह धारा दो।
प्रभो ! क्षणभर सहारा दो॥
चल रहा मैं सीमसे निस्सीम सीमामें अलक्षित,
आँसुओंके देशमें अपने हृदयसे भी अपरिचित,
देव, करुणाके करोंकी स्निग्ध कारा दो।
प्रभो ! क्षणभर सहारा दो॥
पंथ है, मैं हूँ, हृदयमें साधनाकी प्यास भी है,
और केवल एक तुमपर ही टिका विश्वास भी है,
यह रहा गन्तव्य, बस, तुम कर इशारा दो।
प्रभो ! क्षणभर सहारा दो॥

॥ श्रीसीतारामाभ्यां नमः ॥

रामचरितमानस (रामायण) प्रेमी जनताके लिये अपूर्व सुअवसर

मुनिजन धन संतनको सर्वस । सार अंस सम्मत सबही की ॥

सुप्रसिद्ध रामायणियों, साहित्य-मर्मज्ञों तथा मानसप्रेमियोंद्वारा प्रशंसित

श्रीमद्गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीद्वारा विरचित श्रीरामचरितमानसपर
सर्व-सिद्धान्त-समन्वित संसारमें सबसे बड़ा तिलक

मानस-पीयूष (बारह भाग) आधेसे भी कम मूल्यमें

सम्पादक—श्रीअंजनीनन्दनशरणजी (पूर्वनाम श्रीजनकसुताशरणजी—शीतलासहाय)

अयोध्यानिवासी महात्मा श्रीअंजनीनन्दनशरणजीने इस मानस-पीयूषका अपने पास बचा हुआ पूरा स्टाक गीताप्रेसको बेचनेके लिये दे दिया है तथा भविष्यमें इसके पुनर्मुद्रण, प्रकाशन तथा विक्रय आदि-का सर्वाधिकार सम्पूर्ण कापीराइटसहित गीताप्रेसको दे दिया है। इसलिये अब यह ग्रन्थरत्न गीताप्रेसकी अन्य पुस्तकोंकी तरह यहाँसे मिलता रहेगा, ऐसी आशा है।

इसका आकार २०×३० आठपेजी (कल्याण-साइज), पूरे ग्रन्थकी पृष्ठ-संख्या ६८५६, पूरे ग्रन्थका अबतक मूल्य अजिल्दका ११६॥) जिल्दका १५) मिलाकर सजिल्दका १३१॥) था, जिसे घटाकर लगभग आधा कर दिया गया है। अब पूरे ग्रन्थका ७ जिल्दोंमें सजिल्दका मूल्य केवल ६५) रखना तय हुआ है; परंतु अयोध्याकाण्ड पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनों भाग स्टाकमें शेष नहीं रहे हैं, जिनका मूल्य ११) कम करके शेष दस भाग, ६ जिल्दोंमें सजिल्दका मूल्य ५४) है। रेलभाड़ा आदि अलग। कमीशन, फ्री डिलेवरी आदिके नियम हमारे यहाँकी अन्य पुस्तकोंकी तरह इस ग्रन्थपर भी लागू रहेंगे।

प्रत्येक जिल्दका अलग-अलग विवरण—

खण्ड १—इसमें बालकाण्ड भाग १ (प्रारम्भसे दोहा ४३ तक), पृष्ठ-संख्या ७४६, सजिल्द, मूल्य ... ... ७॥)

खण्ड २—इसमें बालकाण्ड भाग २ क (दोहा ४३ से ११० (३) तक), पृष्ठ-संख्या ५१८ तथा बालकाण्ड भाग २ ख (दोहा ११० (४) से दोहा १८८ (६) तक), पृष्ठ-संख्या ४९२, दोनों एक साथ (एक जिल्दमें) सजिल्द, मूल्य ... ९॥)

खण्ड ३—इसमें बालकाण्ड भाग ३ क (दोहा १८८ (७) से २६७ तक), पृष्ठ ६४६ तथा बालकाण्ड भाग ३ ख (दोहा २६८ (१) से काण्ड-समाप्तितक), पृष्ठ ४६८, दोनों एक साथ (एक जिल्दमें) सजिल्द, मूल्य ... १०॥)

खण्ड ५—इसमें अरण्यकाण्ड पूरा, पृष्ठ-संख्या ४४८ तथा किष्किन्धाकाण्ड पूरा, पृष्ठ २७२, दोनों एक साथ (एक जिल्दमें) सजिल्द, मूल्य ... ७)

खण्ड ६—इसमें सुन्दरकाण्ड पूरा, पृष्ठ-संख्या ४७२ तथा लंकाकाण्ड पूरा, पृष्ठ-संख्या ६६४, दोनों एक साथ (एक जिल्दमें) सजिल्द, मूल्य ... ११)

खण्ड ७—इसमें उत्तरकाण्ड पूरा, पृष्ठ-संख्या ९०४, सजिल्द, मूल्य ... ८॥)

इस प्रकार प्राप्य छः खण्डोंका मूल्य ५४), रेलखर्च अलग है।

चौथा खण्ड अभी अप्राप्य है। इसमें अयोध्याकाण्ड पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध दोनों भाग एक ही जिल्दमें देनेका विचार है, परंतु इसके छपनेमें अभी कई मास लग सकते हैं।

इस सर्वसिद्धान्तसमन्वित तिलकमें—

श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजीकी रामायणपर श्री पं० रामकुमारजी, श्री पं० रामवल्लभाशरणजी महाराज (व्यास), श्रीरामाधारजी, श्रीरामबालकदासजी एवं श्रीमानसी वंदन पाठकजी आदि साकेतवासी महानुभावोंकी अप्राप्य और अप्रकाशित टिप्पणियाँ एवं कथाओंके भाव, बाबा श्रीरामचरणदासजी (श्रीकरुणासिन्धुजी), श्रीसंतसिंहजी पंजाबी ज्ञानी, देवतीर्थ श्रीकाष्ठजिह्व स्वामीजी, बाबा श्रीहरिहर-प्रसादजी, श्रीहरिदासजी, श्रीपांडे रामबरणजी, श्री पं० शिवलाल पाठकजी, श्रीबैजनाथजी आदि पूर्व मानसाचार्योंके भाव, आजकलके प्रायः समस्त टीकाकारोंके विशद एवं सुसंगत भाव तथा प्रो० रामदासजी गौड एम्-एस्० सी०, प्रो० लाला भगवानदीनजी, प्रो० पं० रामचन्द्रजी शुक्ल, पं० यादवशंकरजी जामदार रिटायर्ड सबजज, पं० विजयानन्दजी त्रिपाठी (मानसराजहंसजी), श्रीनागाबाबा परमहंसजी (प्रयाग), रामायणी श्रीजयरामदासजी 'दीन', वेदान्तभूषण पं० रामकुमारदासजी आदि आधुनिक मानसविज्ञोंकी आलोचनात्मक व्याख्याओंका सुंदर संग्रह है।

आशा है कि मानस-प्रेमी सज्जन इस ग्रन्थ-रत्नसे लाभ उठा सकेंगे।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

'कल्याण'के पुराने प्राप्य विशेषाङ्क

१७ वें वर्षका संक्षिप्त महाभारताङ्क—पूरी फाइल दो जिल्दोंमें (सजिल्द)—पृष्ठ-संख्या १९१८, तिरंगे चित्र २२, इकरंगे लाइन चित्र ९७५ (फरमोंमें), मूल्य दोनों जिल्दोंका १०)।

२२ वें वर्षका नारी-अङ्क—पृष्ठ-संख्या ८००, चित्र २ सुनहरी, ९ रंगीन, ४४ इकरंगे तथा १९८ लाइन, मूल्य ६) १९ नया पैसा, सजिल्द ७) ४४ नया पैसा मात्र।

२४ वें वर्षका हिंदू-संस्कृति-अङ्क—पृष्ठ ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविता ४६, संगृहीत २९, चित्र २४८, मूल्य ६) ५० नया पैसा, साथमें अङ्क २-३ विना मूल्य।

२८ वें वर्षका संक्षिप्त नारद-विष्णुपुराणाङ्क—पूरी फाइल, पृष्ठ-संख्या १५२४, चित्र तिरंगे ३१, इकरंगे लाइन चित्र १९१ (फरमोंमें), मूल्य ७) ५० नया पैसा, सजिल्द ८) ७५ नया पैसा।

२९ वें वर्षका संतवाणी-अङ्क—पृष्ठ-संख्या ८००, तिरंगे चित्र २२ तथा इकरंगे चित्र ४२, संतोंके सादे चित्र १४०, मूल्य ७) ५० नया पैसा, सजिल्द ८) ७५ नया पैसा।

३१ वें वर्षका तीर्थाङ्क—जनवरी १९५७ का विशेषाङ्क, पूरी फाइलसहित मूल्य ७) ५० नया पैसा।

३२ वें वर्षका भक्ति-अङ्क—जनवरी १९५८ का विशेषाङ्क, पूरी फाइलसहित मूल्य सजिल्दका ८) ७५ नया पैसा।

डाक-खर्च—सबमें हमारा होगा। व्यवस्थापक—**कल्याण, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**